

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और मुसलमान

संकलन

डॉ. मुहम्मद अहमद

(संपादक : मासिक व साप्ताहिक कान्ति)

विषय सूची

| | |
|----------------------------------------------------|---------------------------|
| ■ मुस्लिम सेनानियों की उपेक्षा क्यों? | 5 |
| ■ स्वाधीनता संग्राम और मुसलमान | —राम पुनियानी 9 |
| ■ अंग्रेज़ और मुसलमान | —अब्दुल-मुनअम अन-निम्र 15 |
| असहयोग आन्दोलन, गाँधी जी और मुसलमान | —अब्दुल-मुनअम अन-निम्र 25 |
| भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वर्णिम काल | —अब्दुल-मुनअम अन-निम्र 34 |
| आज़ादी के दीवाने मौलवी बरकतुल्लाह | —संपादन प्रभाग 41 |
| पत्रकारिता के मैदान के एक महान योद्धा | —सलमान फ़ैसल 45 |
| 1857 में विदिशा की भूमिका | —विपिन कुमार त्रिपाठी 49 |
| पीर अली की ललकार | —डॉ. एस.एल. नागौरी 51 |
| ■ इस तरह भी की गई मदद | —भरत राम भट्ट 55 |
| स्वतंत्रता आन्दोलन और ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ | —संपादन प्रभाग 58 |
| ■ देश के स्वतंत्रता-संघर्ष में मुसलमानों का योगदान | —मुहम्मद मुशताक़ बेग 66 |

| | | |
|-----------------------------------------------------------------------------------|------------------|-----|
| शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ | —इरशाद अली आज़मी | 73 |
| मुस्लिम उलमा एवं योद्धा : जिन्होंने सरज़मीने-हिन्द को अपने ख़ूने-जिगर से सींचा | —संपादन प्रभाग | 82 |
| अद्भुत क्रान्तिकारी मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी | —संपादन प्रभाग | 100 |
| ‘क्रान्तिदूत’ अज़ीमुल्लाह ख़ाँ | —संपादन प्रभाग | 105 |
| गुमनाम नायक मौलवी अहमद शाह | —संपादन प्रभाग | 107 |
| अंग्रेज़ों के ख़ूनी आतंक का गवाह कूचा चेलान | —संपादन प्रभाग | 112 |
| मुहम्मद बख़्त ख़ाँ | —संपादन प्रभाग | 119 |
| वली दाद ख़ाँ | —संपादन प्रभाग | 121 |
| हसरत मोहानी, इक़बाल और आज़ाद | —ज़हीर ललितपुरी | 123 |
| शहज़ादा मिर्ज़ा कैसर और मिर्ज़ा महमूद | | 135 |

मुस्लिम सेनानियों की उपेक्षा क्यों?

यह बड़े अफ़सोस और चिंता की बात है कि देश के स्वतंत्रता संग्राम के मुस्लिम सेनानियों का किसी भी रूप में उल्लेख तक नहीं किया जाता। जबकि ऐसी अनगिनत मुस्लिम हस्तियाँ और विभूतियाँ इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं, जिन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय व बहुमूल्य योगदान किया! ब्रिटिश राज की नींव हिला दी और उन्हें भारत छोड़ने के लिए विवश किया। अनेक मुस्लिम क्रान्तिकारियों, कवियों और लेखकों ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी, हजारों की संख्या में इन्हें शहीद किया गया। मगर हमने इन्हें भुला दिया या यूँ कहें, जान-बूझकर इनके योगदानों को भुला दिया गया! प्रख्यात समाजसेवी एवं चिंतक राम पुनियानी जी लिखते हैं, “मुस्लिम नेताओं को स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में वह स्थान नहीं मिला, जिसके वे लायक थे। हमारे कई शिक्षाविदों, इतिहासकारों, पाठ्य-पुस्तक लेखकों और सबसे बढ़कर राजनीतिज्ञों की साम्प्रदायिक सोच के कारण इन मुस्लिम नेताओं की स्वाधीनता आन्दोलन में महती भूमिका को भुला दिया गया या फिर उसे बहुत ही कम स्थान दिया गया।” (‘चौथी दुनिया’ हिन्दी में प्रकाशित एक लेख का अंश) इसी साम्प्रदायिक सोच का उल्लेख एक अन्य विचारक जगदीश्वर चतुर्वेदी इन शब्दों में करते हैं, “इसके विपरीत भारत के मुसलमानों ने अनेक विपरीत परिस्थितियों में रहकर भी भारत के स्वाधीनता संग्राम में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। अनेक मुस्लिम नेताओं ने क्रान्तिकारी आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ मुसलमानों की भूमिका को हमें हमेशा याद रखना चाहिए। मिसाल के तौर पर रौलेट एक्ट विरोधी आन्दोलन और जलियाँवाला बाग़ काण्ड में 70 से अधिक मुसलमान शहीद हुए। इनकी शहादत को हम कैसे भूल सकते हैं? आर.एस.एस. के दुष्प्रचार अभियान में मुसलमानों को जब भी निशाना

बनाया जाता है, तो उनके देश प्रेम और कुरबानी की बातें नहीं बताई जाती हैं। हमारे अनेक सुधीजन फेसबुक पर उनके प्रचार के रोज़ शिकार हो रहे हैं। ऐसे लोगों को हम यही कहना चाहेंगे कि मुसलमानों के खिलाफ़ फेसबुक पर लिखने से पहले थोड़ा लाइब्रेरी जाकर इतिहास का ज्ञान भी प्राप्त कर लें तो शायद मुसलमानों के प्रति फैलाई जा रही नफ़रत से इस देश को बचा सकेंगे।” (‘प्रवक्ता डॉट काम’) भारतीय इतिहास पर निगाह रखनेवाले सुगमता के साथ जानते हैं कि स्वाधीनता आन्दोलन में सात प्रमुख मुस्लिम संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिनके नाम हैं—1. मजलिसे-अहरार, 2. खुदाई ख़िदमतगार, 3. ख़िलाफ़त कमेटी, 4. कश्मीर नेशनल कान्फ़्रेंस, 5. जमीअतुल-उलमा, 6. अंजुमने-वतन बलूचिस्तान और 7. प्रजा कृषक पार्टी। एक दस्तावेज़ी रिपोर्ट के अनुसार, स्वतंत्रता आन्दोलन में गिरफ़्तार किए गए मुसलमानों की कुल संख्या दो लाख 77 हजार है। साथ ही शहीद किए गए मुसलमानों की संख्या हजारों में है। उदाहरण के तौर पर कुछ आंकड़े इस प्रकार हैं—1930 में सूबा सरहद (सीमान्त प्रदेश) में तीन हजार मुसलमानों को गोलियों से उड़ा दिया गया, जबकि चार हजार नामर्द बनाए गए और चालीस हजार गिरफ़्तार किए गए। इसी वर्ष पंजाब में चार हजार, उत्तर प्रदेश में दस हजार, बिहार में तीन हजार, असम में तीन हजार, बंगाल में चार हजार, बम्बई में तीन हजार और सिंध में तीन हजार मुसलमान गिरफ़्तार किए गए। एक रिकार्ड के अनुसार, भारतीय स्वाधीनता संग्राम में गिरफ़्तार मुसलमानों की कुल संख्या लगभग दो लाख 77 हजार है।

देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में लाखों मुसलमान भी शामिल हुए, जिनमें से बहुतों का नाम तक अज्ञात है। इन मुस्लिम सेनानियों के नामों की सूची में कुछ के नाम निश्चय ही सर्वोपरि हैं। प्रस्तुत विशेषांक में ऐसी ही कुछ शख़्सियतों के कुछ कारनामों का उल्लेख भर किया गया है। प्रसिद्ध विद्वान मौलाना शाह वली-उल्लाह (रह.) ने मुसलमानों में लक्ष्य-प्राप्ति की खातिर राजनीतिक चेतना जगाने का महत्वपूर्ण काम अंजाम दिया। इसी क्रम में मौलाना शाह अब्दुल-अज़ीज़ और हाजी इम्दादुल्लाह के योगदानों को कोई कैसे नकार सकता है। महान क्रान्तिकारी मौलाना महमूद हसन और

बैदुल्लाह सिन्धी के कारनामे तो स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में ग़र्णिम अक्षरों में दर्ज हैं, लेकिन राजनीति और कूटनीति के धनी मौलाना हम्मद मियाँ अनसारी के योगदान से दुनिया अनभिज्ञ है। यह बात दूसरी कि मुसलमानों के इस अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयासों पर जान-बूझकर काश नहीं डाला जाता। मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, हकीम अजमल ाँ, मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, अल्ताफ़ हुसैन हाली, बी अम्मा, सैयद अहमद सरहिन्दी, मौलाना शिबली नोमानी, डॉ. सैफ़ुद्दीन किचलू और रफ़ी अहमद क़िदवाई आदि ऐसे मुसलमान हैं, जो इस उद्देश्य में शामिल हैं। शाहजहाँपुर के अशफ़ाक़-उल्लाह ख़ाँ ने काकोरी (लखनऊ) पर ब्रिटिश जकोष को लूटने का षड्यंत्र रचा था। ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ (सीमांत पंथी के रूप में प्रसिद्ध) एक महान क्रान्तिकारी नेता थे, जिन्होंने अपने 95 वर्ष के जीवन में से 45 वर्ष केवल जेल में बिताए। भोपाल के मुहम्मद रकतुल्लाह ग़दर पार्टी के संस्थापकों में से एक थे, जिन्होंने ब्रिटिश विरोधी ग़ठनों से नेटवर्क बनाया था। ग़दर पार्टी के सैयद शाह रहमत ने फ़्रांस में एक भूमिगत क्रान्तिकारी के रूप में काम किया और 1915 में असफल ग़दर उनकी भूमिका के लिए उन्हें फ़ांसी की सज़ा दी गई। फ़ैज़ाबाद (उत्तर देश) के अली अहमद सिद्दीक़ी ने जौनपुर के सैयद मुज्जबा हुसैन को साथ लाया और बर्मा में भारतीय विद्रोह की योजना बनाई और 1917 में उन्हें फ़ांसी पर लटका दिया गया। केरल के अब्दुल-वक्कोम क़ादिर ने 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लिया और 1942 में उन्हें फ़ांसी की सज़ा दी गई। उमर सुबहानी जो कि बम्बई के एक उद्योगपति करोड़पति थे, जिन्होंने गाँधी जी और कांग्रेस को व्यय प्रदान किया था और अंततः स्वतंत्रता आन्दोलन में अपने को कुर्बान कर दिया। क्रान्तिकारी मुस्लिम महिलाओं में तो अम्मा के साथ ही बेगम हज़रत महल, असग़री बेगम, हबीबा, जमीला, बेगम ज़ीनत महल आदि ने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ स्वतंत्रता के संघर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बहुत-सी मुस्लिम महिलाओं ने क्रान्तिकारियों को विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान की। जब 1857 में क्रान्ति प्रारम्भ हुई, तो कानपुर में नाना साहब तथा तात्या टोपे ने क्रान्ति का नेतृत्व किया। उस

समय हिन्दू और मुस्लिम महिलाओं ने विविध रूप से क्रान्तिकारियों व सहायता दी। उन्होंने गोला-बारूद इधर-उधर ले जाने, तोपचियों की मर करने, किले के नीचे लड़ रहे क्रान्तिकारियों को भोजन पहुँचाने, घायलों व सेवा-सुश्रूषा का कार्य कर युद्ध के समय क्रान्तिकारियों को मदद पहुँचाने आवश्यकता पड़ने पर वे शस्त्र धारण करके युद्ध के मैदान में भी जाती थीं। अवध में क्रान्ति का नेतृत्व बेगम हज़रत महल ने किया था। उनके नेतृत्व में वहाँ की अनेक मुस्लिम महिलाओं ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ क्रान्ति में खुलवा भाग लिया था। उनमें कुछ तो युद्ध में शहीद हो गईं और कुछ के साथ अंग्रेज़ सैनिकों ने बुरा बरताव किया था। ऐसा पता चलता है कि लखनऊ को बचाने के लिए अनेक महिलाओं ने अपनी जान तक कुरबान कर दी। एक महिला ने पेड़ पर बैठे हुए अंग्रेज़ सिपाहियों को मौत के घाट उतार दिया। इसी प्रयास में वह भी ब्रितानियों के हाथों शहीद हो गई। इसी प्रकार दिल्ली में ज़ीनत महल के नेतृत्व में कुछ मुस्लिम महिलाओं ने अंग्रेज़ सैनिकों को विशेष क्षति पहुँचाई थी। ऐसा कहा जाता है कि दिल्ली की एक मुस्लिम महिला ने ब्रितानियों को आतंकित कर दिया था। इसके अतिरिक्त दिल्ली व चौदह मुस्लिम महिलाओं ने इज़्ज़त बचाने के लिए आत्महत्या कर ली थी। उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़रनगर के थाना भवन की असगरी बेगम को क्रान्ति में अहम भूमिका निभाने के कारण ज़िन्दा आग में जलाकर मार डाला गया। इसके अतिरिक्त बाखरा गाँव की बख़्तावरी को फांसी की सज़ा दी गई थी। अफ़सोस आज हमें उन लोगों की कुरबानी बिलकुल भी याद नहीं रह गई। जिनकी बदौलत हमें आज़ादी नसीब हुई।

उपर्युक्त बातें 'क्रान्ति मासिक' दिल्ली के विशेषांक "भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और मुसलमान" (अक्टूबर 2015) की हैं। इसी विशेषांक के अधिकांश लेखों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है कि यह प्रयास देश में हिन्दू-मुस्लिम एकता की दिशा में एक अहम भूमिका निभाएगा।

—डॉ० मुहम्मद अहमद

स्वाधीनता संग्राम और मुसलमान

■ राम पुनियानी

भारत के सभी धर्मों के नागरिकों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ज़रिए स्वतंत्रता आन्दोलन में अपना योगदान दिया, परन्तु हमारे नेताओं की बहुसंख्यकवादी मानसिकता और स्कूली पाठ्यक्रम तैयार करनेवालों के संकीर्ण दृष्टिकोण के चलते भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में अल्पसंख्यकों की भूमिका को पूरी तरह से नज़रअन्दाज़ कर दिया गया है। भारत कभी उस अर्थ में राष्ट्र नहीं रहा, जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पश्चिम में किया जाता है। पश्चिमी राष्ट्रों का आधार है एक भाषा और एक संस्कृति। इसके विपरीत भारत कभी एक भाषा, धर्म या संस्कृति वाला देश नहीं रहा। धार्मिक, भाषाई, नस्ली और सांस्कृतिक विविधताएँ हमेशा से भारत की विशेषता रही हैं। जब हमने ब्रिटिश राज की अपरिमित शक्ति को चुनौती देने का निर्णय किया, तभी हमारे नेताओं को यह एहसास हो गया था कि देश के लोगों, विशेषकर हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता कितनी महत्वपूर्ण है।

स्वाधीनता संग्राम का एक नारा था, 'दीन-धरम हमारा मज़हब, ये ईसाई (अर्थात् अंग्रेज़) कहाँ से आए ?' आम मुसलमानों ने कांग्रेस की स्थापना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया और कांग्रेस के सभी आन्दोलनों को अपना समर्थन दिया। कांग्रेस के निर्माण से लेकर भारत के स्वतंत्र होने तक मुसलमान कांग्रेस के साथ बने रहे। इस लेख में हम इसी विषय पर कुछ चर्चा करना चाहेंगे। सबसे पहले तो मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि किसी समुदाय के कुछ सदस्यों के कामों या गतिविधियों से पूरे समुदाय के सम्बन्ध में कोई राय नहीं क़ायम करनी चाहिए। हर व्यक्ति की अपनी प्राथमिकताएँ और अपना एजेण्डा होता है। कई लोगों को यह जानकर हैरत होगी कि मुसलमानों में कांग्रेस के सबसे उत्साही समर्थक हैं देवबन्द के उलमा। यहाँ

यह जानना भी महत्वपूर्ण होगा कि उलमा ने 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम में भी भाग लिया था और उसमें अपनी पूरी ताकत झोंक दी थी।

इन उलमा ने 1857-ई. की क्रान्ति में बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ दीं और उनमें से सैकड़ों को कालापानी की सज़ा देकर अण्डमान भेज दिया गया। कई को इटली के दक्षिण में स्थित माल्टा नामक द्वीप में निर्वासित कर दिया गया। मैंने माल्टा के क़ब्रिस्तान में सैकड़ों उलमा की क़ब्रें देखी हैं। उन्हें अपने महबूब वतन की मिट्टी में दफ़न होना भी नसीब नहीं हुआ। जिन उलमा को निर्वासित किया गया था, उनमें से कई तो बहुत जाने-माने थे। ऐसे ही एक आलिम थे मौलाना फ़ज़ल क़ाहिराबादी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद दारुल-उलूम देवबन्द के संस्थापक मौलाना क़ासिम नानोतवी, जो स्वयं एक जाने-माने आलिम थे, ने एक फ़तवा जारी कर मुसलमानों को कांग्रेस की सदस्यता लेने और अंग्रेज़ों को देश से निकाल बाहर करने के लिए कहा। केवल यही नहीं, उन्होंने इस तरह के एक सौ फ़तवों को इकट्ठा कर उनका संकलन प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'नुसरत अल-अहरार' (स्वतंत्रता सेनानियों की मदद)। उक्त उलमा आम मुसलमानों के नेता थे और देश से अंग्रेज़ों की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध थे।

एक अन्य जाने-माने आलिम मौलाना महमूद हसन ने हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने का सन्देश पूरे देश में फैलाने की एक योजना, जिसे रेशमी रूमाल षड्यंत्र कहा जाता है, में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मौलाना महमूद हसन के अलावा अन्य कई उलमा और आम मुसलमानों ने इस षड्यंत्र में भाग लिया था। मौलाना हसरत मोहानी एक प्रतिष्ठित उर्दू कवि एवं बुद्धिजीवी थे। इसके साथ-साथ वह एक महान क्रान्तिकारी भी थे, जिन्होंने स्वाधीनता की लड़ाई में हिस्सा लिया और बहुत कष्ट भोगे। वे बाल गंगाधर तिलक और उनके प्रसिद्ध नारे 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के घोर प्रशंसक थे। वे तिलक को तिलक महाराज के नाम से पुकारते थे। एक मौलाना होते हुए भी वे 1925 में स्थापित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक थे। मौलाना कई बार जेल गए और उन्हें कड़ी सज़ाएँ दी गईं। इनमें शामिल थी रोज़ 40

हलो अनाज पीसने की सज़ा, परन्तु मौलाना ने कभी हार नहीं मानी।

गाँधी जी तक देश के दूरगामी हितों की खातिर कुछ समय के लिए मरुल के लिए राजी हो गए थे, परन्तु मौलाना इस मामले में किसी प्रकार समझौते के पक्षधर नहीं थे।

जब कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में होमरूल प्रस्ताव पेश किया या, उस समय मौलाना को एक मुशायरे की तैयारी के बहाने अधिवेशन प्रल से दूर रखा गया, क्योंकि यह तय था कि वह प्रस्ताव का कड़ा विरोध रेंगे। यह थी मौलाना की भारत की सम्पूर्ण स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का देश के मुसलमानों ने पूरे उत्साह से गत किया था। इस तथ्य को हमारे इतिहासविदों ने कभी पर्याप्त महत्व ही दिया। हमारे इतिहासविद् हमेशा इस बात पर जोर देते रहे हैं कि सर यद ने मुसलमानों को यह सलाह दी थी कि वे कांग्रेस की सदस्यता न लें। य्य यह है कि यह मुसलमानों के एक छोटे से हिस्से की राय थी। यह वह वक्रा था, जिसने 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम के बाद अंग्रेजों के हाथों इत अत्याचार सहे थे और जो अंग्रेजों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाना हता था। हिन्दुओं में भी ऐसे तत्व थे, विशेषकर ज़मीनदारों, राजाओं एवं शराजाओं में। इसके अलावा सर सैयद का कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण त्रुता का नहीं था। वे तो केवल यह चाहते थे कि मुसलमान आधुनिक क्षा और सामाजिक परिवर्तन पर ज़्यादा ध्यान दें।

सर सैयद की भूमिका के बारे में बहुसंख्यक साम्प्रदायिक तत्वों ने कई ह के भ्रम फैलाए हैं। इस सिलसिले में यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि सर यद ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने हिन्दुओं र मुसलमानों को भारत रूपी दुल्हन की दो आँखें निरूपित किया था। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि सर सैयद आम जनता के नेता नहीं थे। तो केवल उत्तर भारत के मुसलमानों को सामाजिक एवं शैक्षिक सुधारों के ए प्रेरित करना चाहते थे। सभी मुसलमान भी सर सैयद के साथ नहीं थे। र वर्ग के एक सदस्य एवं बम्बई हाईकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश बदरुद्दीन ब जी ने बम्बई अधिवेशन के दौरान अपने 300 साथियों के साथ कांग्रेस

की सदस्यता ली थी। वे बाद में कांग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गए।

खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध में भी अनेक भ्रातियाँ हैं। यह आन्दोलन गाँधी जी की अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण रणनीति का हिस्सा था। इसके ज़रि गाँधी जी ने सफलतापूर्वक लाखों आम मुसलमानों को स्वतंत्रता आन्दोलन से जोड़ा। दुर्भाग्यवश, हमारे देश का बुद्धिजीवी वर्ग इस आन्दोलन को सा दृष्टिकोण से नहीं देखता, परन्तु इस तथ्य को कोई नकार नहीं सकता कि इस आन्दोलन के कारण ही बड़ी संख्या में मुसलमान स्वाधीनता आन्दोलन का हिस्सा बने। अली बंधु—मौलाना मुहम्मद अली एवं शौकत अली इस आन्दोलन की उपज थे। अली बंधुओं ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में बहु महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनकी माँ भी स्वतंत्रता संघर्ष के प्रति उत्त ही प्रतिबद्ध थीं। जब उनकी माँ को इस अफ़वाह की जानकारी मिली कि अली बंधु माफ़ी माँग कर जेल से बाहर आने की कोशिश कर रहे हैं (य कोरी अफ़वाह ही थी) तो एक पर्दानशीन महिला होने के बावजूद उन्हें एक सार्वजनिक मंच से घोषणा की कि अगर मेरे पुत्रों ने ऐसा कुछ कि तो मैं उनका दूध माफ़ नहीं करूँगी।

जीवन के अन्तिम समय में मौलाना मुहम्मद अली के गाँधी जी गम्भीर मतभेद हो गए थे, परन्तु अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने यह इच्छ व्यक्त की कि उन्हें यरुशलम में दफ़नाया जाए, क्योंकि वे गुलाम भारत नहीं दफ़न होना चाहते। खिलाफत आन्दोलन के दौरान कुछ मुसलमानों ब्रिटिश भारत को दारुल-हर्ब (युद्ध का घर) घोषित करके अफ़ग़ानिस्त पलायन करना शुरू कर दिया, ताकि वहाँ निर्वासित सरकार स्थापित व अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष का संचालन किया जा सके। इस पलायन के मु प्रेरणा स्रोत थे मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी। उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान में स्वत भारत की अन्तरिम निर्वासित सरकार बनाई। राजा महेन्द्र प्रताप इस सरक के राष्ट्रपति थे और मौलाना उबैदुल्लाह प्रधानमंत्री। दुर्भाग्यवश अफ़ग़ानिस्त के बादशाह ने ब्रिटिश सरकार के दबाव में आकर वहाँ पहुँचे मुसलमानों अपने देश से निकाल दिया। इस कार्रवाई में हज़ारों मुसलमान मारे गए ऐसी थी आज़ादी के प्रति मुसलमानों की दीवानगी।

स्वाधीनता आन्दोलन के एक अन्य चमकीले सितारे थे मौलाना हुसैन अहमद मदनी। उन्होंने देश के विभाजन का जमकर विरोध किया। वे महान वि एवं चिन्तक इक़बाल से भिड़ गए और राष्ट्रीयता के मुद्दे पर इक़बाल के विचारों को चुनौती दी। उन्होंने एक किताब भी लिखी, जिसका शीर्षक 'मुत्तहिदा क्रौमियत और इस्लाम' (साझा राष्ट्रवाद और इस्लाम)। उन्होंने क़नाह के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को भी चुनौती दी और क़ुरआन और हदीसों से लिए गए उदाहरणों से यह साबित किया कि द्विराष्ट्र सिद्धान्त को इस्लाम की ज़रूरी नहीं है। उनकी इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद भी उपलब्ध है। यह अनुवाद जमीअत उलेमा-ए-हिन्द ने कराया है और अब इस पुस्तक का लाभ रूढ़ न जानने वाले भी उठा सकते हैं।

मौलाना हुसैन अहमद को कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। मुस्लिम लोग के कार्यकर्ताओं ने कई स्थानों पर उनके साथ दुर्व्यवहार किया और उन्हें जूतों की मालाएँ पहनाईं। स्वतंत्रता आन्दोलन में मौलाना आज़ाद और सरहदी गाँधी ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के स्वर्णिम योगदान को कौन भुला सकता है ? दोनों अपनी अन्तिम साँस तक भारत की आज़ादी के दीवाने बने रहे। ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ एकमात्र ऐसे नेता थे, जिन्होंने देश के विभाजन को कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कांग्रेस कार्य समिति की बैठकों में विभाजन का तब भी विरोध किया, जब नेहरू और सरदार पटेल एक ने इसे अपरिहार्य मानकर स्वीकार कर लिया था।

मौलाना आज़ाद ने विभाजन का विरोध करते हुए जो लेख लिखा था, उस विषय पर उससे बेहतर शायद ही कुछ लिखा गया होगा। इन मुस्लिम नेताओं को स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में वह स्थान नहीं मिला, जिसके लायक थे। हमारे कई शिक्षाविदों, इतिहासकारों, पाठ्य-पुस्तक लेखकों और सबसे बढ़कर राजनीतिज्ञों की साम्प्रदायिक सोच के कारण इन मुस्लिम नेताओं की स्वाधीनता आन्दोलन में महती भूमिका को भुला दिया गया या फेर उसे बहुत ही कम स्थान दिया गया। जब मैं मदुरई के गाँधी संग्रहालय में गया, जो देश के सर्वश्रेष्ठ गाँधी संग्रहालयों में से एक माना जाता है, तो मुझे यह देखकर बहुत दुख हुआ कि वहाँ सरहदी गाँधी की स्वाधीनता संग्राम

में भूमिका के नाम पर एक तरह से कुछ न था।

आज एक आम हिन्दू सोचता है कि मुसलमानों ने इस देश के दो टुकड़े करवाए और वह उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए कुछ नहीं किया जा रहा है, जो अफ़सोसनाक है।

अंग्रेज़ और मुसलमान

■ अब्दुल-मुनअम अन-निग्र

“इस अजीम और स्पष्ट वास्तविकता से अनदेखी नहीं की जा सकती कि केवल मुसलमान स्वाभाविक और प्राकृतिक रूप से हमारे दुश्मन हैं। हमारा मूल लक्ष्य व उद्देश्य यह है कि हम हिन्दुओं की प्रसन्नता प्राप्त करें।”

(लार्ड एलन बेर्ड (Lord Alan Byrd)

गवर्नर जनरल भारत, 1843 ई.)

भारत पर शासन करने की यही वह मूल कूटनीति थी, जिसे अंग्रेज़ों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ज़माने में अपनाया था और जब उन्होंने सन् 1857 ई. में क्रान्ति की कोशिशों को असफल बना दिया तो और अधिक सख्ती के साथ इस पर काम करने लगे। सन 1857 ई. की इस घटना के सम्बन्ध में मुसलमानों और उनके बादशाह सिराजुद्दीन बहादुर शाह ज़फ़र का विचार था कि वे इन्हीं के द्वारा अपनी छिनी हुई शक्ति व प्रभाव को वापस लाने में सफल हो जाएंगे। अंग्रेज़ों पर मुसलमानों की शदीद दुश्मनी स्पष्ट हो गई। अंग्रेज़ों को भारत से निकाल बाहर करने की असफल कोशिश भी उजागर हो गई और क्रान्ति की कोशिश भी असफल हो गई, तो अंग्रेज़ प्रतिशोध लेने के लिए बिलकुल तैयार हो गए। उन्होंने विभिन्न धाराओं की बुरी-से-बुरी सज़ाओं के लिए मुसलमानों को ही अपना निशाना बनाया। जिसका सविस्तार विवरण ‘तारीखुल-इस्लाम फ़िल-हिन्द, पृ. 359’ में ‘इन्क़िलाब, 1857 ई. के असबाब’ शीर्षक के अन्तर्गत देख सकते हैं।

जब प्रतिशोध की आग ठण्डी हो गई और प्रभुत्व प्राप्त करनेवालों ने अपनी प्यास मुसलमानों के खून से बुझा ली, तो भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन आ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बजाय ब्रिटिश सरकार भारत की प्रबन्ध-व्यवस्था और शासन की ज़िम्मेदार बन गई और महारानी विक्टोरिया ने तथाकथित क्षमादान की घोषणा की, जिसे ‘आम माफ़ी’ का नाम दिया गया, तो अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी उस पुरानी राजनीतिक कूटनीति के अधीन संग्रहित योजना और क़ानून को लागू करना शुरू कर दिया।

अंग्रेजों ने मुसलमानों को आर्थिक हैसियत से भी कमजोर करने की कोशिश की और उन्हें निर्धन बनाकर छोड़ा। उन पर क्रजों का बोझ लाद दिया। सूदी कारोबार करनेवाले हिन्दुओं को भी मुसलमानों की सम्पत्तियाँ ज़ब्त कराने में उनकी सहायता प्रदान की। उनके लिए छोटी-बड़ी सारी नौकरियों के दरवाज़े बन्द कर दिए गए। जो मुसलमान व्यापार करते थे उनके लिए तरह-तरह की आर्थिक परेशानियाँ पैदा की गईं।

इसी के साथ-साथ अंग्रेजों ने मुसलमानों को विशेष रूप से अज्ञानता का शिकार बनाया, यद्यपि यही लोग अंग्रेजों के भारत पर सत्तासीन होने से पहले दूसरी सारी क्रौमों की तुलना में बुद्धिमत्ता के लिहाज़ से प्रतिष्ठित व प्रगतिशील थे, जिसको अंग्रेज़ इतिहासकार 'मिस्टर हंटर' ने स्वयं स्वीकार किया है। अंग्रेजों ने मुसलमानों के उन मदरसों को निशाना बनाया, जो वास्तव में देश में सभ्यता व संस्कृति के स्रोत थे। बहुत-से मुस्लिम औक्राफ़ ज़ब्त कर लिए गए, जो-उन मदरसों की आय का स्रोत थे।

इसी पर बस नहीं किया गया, बल्कि जो धनवान मुसलमान थे, जिनका स्वाभिमान उन्हें उन मदरसों की सहायता करने पर उभारता था, उन्हें डराया-धमकाया गया या लोभ-लालच देकर उन्हें अपने ही लोगों के विरुद्ध खड़ा कर दिया गया। इस तरह उन्हें उन मदरसों की सहायता करने से रोक दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनमें से बहुत-से मदरसे विवशता के कारण बन्द हो गए।

मुसलमानों के अतिरिक्त भारत की दूसरी क्रौमों जैसे हिन्दू आदि की दशा और उनकी मनोवृत्तियाँ इसके बिलकुल ही विपरीत थी। वे अंग्रेजों की तरफ़ किंचित आकर्षित हुए। अंग्रेजों ने भी उनके इस कृत्य का उन्हें पुरस्कार दिया और उनकी ओर अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ाया। उन्होंने एक तरफ़ तो उन हिन्दुओं को सीने से लगाया और दूसरी ओर उन्हें बहुत-ही अल्प पारिश्रमिक देकर उनसे वह बदतरीन काम लिया, जिसमें अंग्रेज़ी राजनीति हमेशा मशहूर रही है। अर्थात् इस तरह अंग्रेजों ने अपने वास्तविक दुश्मन मुसलमानों के विरुद्ध उन्हें लाकर खड़ा कर दिया।

वास्तविकता यह है कि अंग्रेजों के विरुद्ध सन् 1857 ई. में हुए विद्रोह की असफलता के बाद जो दौर आया वह खतरनाक, निराशाजनक और बड़ा त्रासद था। यद्यपि यह निराशा भारत के समस्त स्वतंत्रता प्रेमियों में फैली हुई थी, लेकिन देश के मुसलमान इस असफलता और निराशा के बड़े प्रभावों से ज्यादा प्रभावित हुए। यह असफलता वैसी ही थी, जैसी मिस्त्रियों पर सन् 1882 ई. के आन्दोलन की असफलता के बाद उत्पन्न हुई थी।

इस प्रकार की निराशाओं के साथ खिन्नता, हतोत्साह, असावधानी और इर सब कुछ पैदा हो जाता है, लेकिन इसी के साथ-साथ रौशनी की इल्की-सी किरण भी थी, जो इस घनघोर अंधियारे में चमक रही थी।

रौशनी की यह किरण उन क्रान्तिकारियों के दिलों से फूट रही थी, जो निराशाओं के शब्द से भी अनभिज्ञ थे। उनके दिल ईमान के नूर से प्रकाशमान थे और देश-धर्म के प्रति निश्चल थे। स्वतंत्रता सेनानियों के इस संगठन का नेतृत्व हज़रत सैयद अहमद शहीद बरेलवी (रह.) कर रहे थे, जो मुसलमानों के दुश्मनों से अपने अनुयायियों और धर्म पर विश्वास करने वालों के साथ जिहाद करते हुए उत्तरी भारत में सन 1931 ई. में शहीद हुए।

(‘तारीखुल-इस्लाम फ़िल-हिन्द’ हज़रत शहीद और उनकी तहरीक, अध्याय-12)

मौलाना सैयद अबुल-हसन अली नदवी ने सविस्तार एक लेख में उन मुजाहिदीन (स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों) का चरित्र पेश किया है। मैं यहाँ उसी लेख से एक लम्बा उद्धरण लिख रहा हूँ, जिससे भारत अपने अंधकारमय दौर में भी खाली न रहा—

2 मई सन् 1864 ई. को अंग्रेज़ जज अम्बाला की अदालत में बैठा। उसके साथ शहर के चार प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उस मुक़दमे के सिलसिले में अपनी राय देने के लिए उपस्थित थे। उन लोगों के सामने वे ग्यारह लोग पेश किए गए, जिन पर आरोप था कि इन लोगों ने भारत में अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध एक षड्यंत्र रचा था और ये लोग हज़रत सैयद अहमद शहीद और हज़रत मौलाना शाह इसमाईल शहीद (रह.) के अनुयायियों की अफ़ग़ानिस्तान

की सीमाओं पर मदद किया करते थे इत्यादि। आज इन लोगों के मुकदमे के फैसले की तारीख थी।

अपना फैसला सुनाते हुए जज ने एक शक्तिशाली खूबसूरत नौजवान को संबोधित करते हुए कहा, जो किसी शरीफ़ व प्रतिष्ठित खानदान का व्यक्ति मालूम हो रहा था—“जाफ़र! तुम तो एक समझदार छात्र हो, सरकारी कानून के बारे में भी तुम भली-भाँति परिचित हो, तुम अपने शहर के सम्मानित व्यक्ति हो, शहर के धनी लोगों में से हो, लेकिन इन सारी बातों के बावजूद तुमने अपनी बुद्धिमत्ता और अपना ज्ञान सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र में लगाया और तुम ही धन और आदमियों को भारत से विद्रोहियों के केन्द्र में भेजने का माध्यम बने?” निर्णय सुनाते हुए जज ने आगे कहा, “लो सुनो! मैं तुम्हारे लिए फांसी की सज़ा और तुम्हारी हर तरह की सम्पत्तियों को ज़ब्त करने का आदेश देता हूँ। फांसी के बाद तुम्हारी लाश भी तुम्हारे माता-पिता व परिवार के लोगों को नहीं दी जाएगी, बल्कि आभागों के कब्रिस्तान में पूरे अपमान व तिरस्कार के साथ दफ़न कर दी जाएगी और जब तुम्हें फांसी के तख़्ते पर लटका हुआ देख लूँगा, तो मुझे खुशी होगी और अपने आपको भाग्यशाली समझूँगा।”

जब जज अपनी बात कह चुका और फैसला सुना चुका, तो उस देश प्रेमी नौजवान ने पूरे आत्मविश्वास और सन्तोष के साथ कहा, “बेशक जान अल्लाह तआला के हाथ में है, वही जिलाता, वही मारता है। जज साहब आप किसी के जीवन और मृत्यु के ठेकेदार नहीं हैं और न आपको इसकी ख़बर है कि हम दोनों में से कौन मौत के घाट पहले उतरेगा।”

लोगों को उस मोमिन नौजवान के साहस पर आश्चर्य हुआ, जिसके चेहरे से आभा की किरणें फूट रही थीं और जब उसकी ओर अंग्रेज़ इन्स्पेक्टर बारसिन बढ़ा और उसने उनसे कहा, “मैंने तुम्हारी तरह का कोई दूसरा नहीं देखा, तुम्हें फांसी की सज़ा दी जा रही है और तुम खुश हो रहे हो।” इस पर मौलाना जाफ़र ने जवाब दिया, “आख़िर मैं क्यों न खुश हूँ अल्लाह ने अपनी राह में मुझे शहादत नसीब फ़रमाई है मियाँ! तुम्हें इसकी मिठास की भला क्या ख़बर?”

मौलाना जाफ़र के अलावा दो और लोगों को फांसी की सज़ा सुनाई गई, उनमें से एक मौलाना यह्या सादिकपुरी जो जामिआ के अध्यक्ष थे और हाफ़ी बूढ़े व्यक्ति थे और दूसरे थे पंजाब के नौजवान सेठ हाजी मुहम्मद हाफ़ी, शेष आठ लोगों को आजीवन कारावास की सज़ा दी गई। जब अंग्रेज़ों ने महसूस किया कि जिन लोगों को फांसी की सज़ा दी गई है, वे इस सज़ा से बहुत खुश हैं, तो उन पर उन्माद सवार हो गया और अब वे इस सोच में पड़े कि उन्हें शहादत नसीब न हो। अतः एक दिन शहर का कलेक्टर उन स्वतंत्रता प्रेमियों के पास आया और रिहाई कोर्ट का फैसला पढ़कर उन्हें पुनाया, “विद्रोहियो ! तुम लोग फांसी को पसन्द करते हो और उसे अल्लाह की राह में शहादत समझते हो, लेकिन हम नहीं चाहते कि तुम्हारी मनोकामनाएँ पूर्ण हों और तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त हो, इसलिए फांसी के फैसले को निरस्त करते हुए तुम्हें आजीवन सिंहलद्वीप (लंका) में कालापानी की सज़ा देते हैं।”

इन स्वतंत्रता प्रेमियों से बहुत ही जटिल काम लिए गए। इन्हें एक जेल से दूसरी जेल में भेजा गया। अन्त में उन्हें अण्डमान द्वीप समूह भेजा गया, जो बहुत ही बुरी जगह थी। मौलाना यह्या की मृत्यु फ़रवरी 1868 ई. में हो गई, लेकिन उनके साथी मौलाना जाफ़र को 18 वर्ष काला पानी की सज़ा भुगतने के बाद सन 1883 ई. में माफ़ी दे दी गई।

चूँकि अंग्रेज़ों ने मदरसों को ख़त्म करने के लिए औक्राफ़ को ख़त्म कर दिया था, जिसकी आय से मदरसे चलते थे। इसलिए इस पद्धति पर विचार किया गया कि ऐसे नए मदरसे खोले जाएँ, जो औक्राफ़ पर आश्रित ही न हों, बल्कि वे लोग इसकी आय का साधन हों, जिन तक अंग्रेज़ी सरकार के हाथ उस तरह न पहुँच सकें, जैसे कि औक्राफ़, ज़मीनदार और धनवान मुसलमानों तक पहुँच सके थे।

ऐसी स्थिति में इस मैदान में उनके लिए प्रयत्न करना ज़रूरी था, ताकि अपने दीन (धर्म) की रक्षा कर सकें। उन्हें सबसे ज़्यादा जिस बात की चिन्ता थी वह यह कि वे अपने नौजवानों का शिक्षण-प्रशिक्षण इस तरह करें कि उन पर साम्राज्यवाद की हल्की-सी छाप भी न पड़े और उनके दिलों में ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के विरुद्ध द्वेष की भावना पैदा हो जाए। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा-दीक्षा के द्वारा उन्हें पश्चिमी प्रभाव को अंगीकृत करने से बचाया जा सके। इस आवश्यकता को ऐसे ही मदरसे पूरा कर सकते थे, जो सरकार और सरकारी पदाधिकारियों के प्रभाव से बिलकुल स्वतंत्र हों। अतः इस काम के लिए उन उलमा में से कुछ स्वाभिमानी लोग तैयार हुए, जिन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया था और उनके विरुद्ध हथियार उठाए थे।

इस तरह सबसे पहले स्थापित किया जानेवाला मदरसा 'दारुल-उलूम' था, जो देवबन्द में खोला गया। यह ज़िला सहारनपुर का एक कस्बा (सबडिवीज़न) है, जो दिल्ली से करीब 90 मील उत्तर की ओर उत्तर प्रदेश में स्थिति है। उस वक़्त इसकी आबादी तीस हज़ार थी, जिनमें आधे मुसलमान थे। देवबन्द के एक ख़ानदान से मौलाना मुहम्मद क़ासिम नानोतवी की रिश्तेदारी थी। आपने वहीं शादी की। जब उलमा का संगठन क्रान्ति की कोशिश में असफल हो गया और अंग्रेज़ सफल हो गए, तो मौलाना ने इस ख़ानदान में पनाह ली और अंग्रेज़ों की ओर से स्वतंत्रता आन्दोलन में शरीक होनेवालों के लिए आम माफ़ी की घोषणा तक वहीं छिपे रहे। फिर वे अपने आन्दोलन को चलाने के लिए प्रयत्नशील हो गए।

मदरसे में शिक्षा की शुरुआत मुहर्रम 1283, हिजरी सन् 1868 ई. में एक छोटी-सी मस्जिद के प्रांगण में अनार के पेड़ के नीचे हुई। यह मस्जिद आज भी मौजूद है और 'मस्जिद छत्ता' के नाम से प्रसिद्ध है। उस वक़्त मदरसे में छात्र एक ही थे, जिनका नाम महमूद हसन था और शिक्षक भी एक जिनका नाम मुल्ला क़ारी महमूद था। यह मदरसा हज़रत मौलाना रशीद अहमद गंगोही (रह.) की सरपरस्ती में था।

(तारीख़ुल-इस्ताम फ़िल-हिन्द, पृ. 441)

ख़ुदा की मर्ज़ी देखिए कि इस मदरसा का यह पहला छात्र अंग्रेज़ों के भारत से निकाल बाहर करने की कोशिश में और दूसरे लीडरों के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलता नज़र आता है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अरब में

इन्हें और इनके साथियों को गिरफ्तार करके माल्टा की जेल में बन्द कर दिया, जहाँ वे 1920 ई. तक कैद रहे। माल्टा की जेल से रिहा होने के बाद जब भारत आए, तो भारत के कोने-कोने में आपका नाम प्रसिद्ध हो चुका था। उसी ज़माने में क्लौम ने आपको “शैखुल हिन्द” की उपाधि से विभूषित किया।

मदरसा छोटी-सी मस्जिद के बगल में ज़माने के साथ-साथ बढ़ता और उन्नति करता रहा, यहाँ तक कि आज यह मदरसा अनेक ऊँची-ऊँची इमारतों और विस्तृत भू-भाग पर आधारित है, जिसमें बड़ी संख्या में देश-विदेश के छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। दारुल-उलूम देवबन्द और दूसरे मदरसे केवल इस आधार पर स्थापित किए गए थे कि इन मदरसों के माध्यम से इस्लामी सभ्यता, अरबी भाषा और पश्चिमी सभ्यता से जंग तथा अंग्रेज़ी रहन-सहन, आचार-विचार, वेष-भूषा और भारतीय मुसलमानों के सोच-विचार व चरित्र के बीच दीवार खड़ी की जाए। इस सोच ने भारत में एक विशिष्ट विचारधारा की नींव डाल दी, जिसके गहरे प्रभाव भारत पर, विशेष रूप से मुसलमानों के जीवन पर पड़े।

भारत के प्रसिद्ध विद्वान मौलाना अबुल-हसन अली नदवी अपनी अरबी किताब “मौकिफ़ुल आलमिल-इस्लामी इत्तिजाहुल हज़ारतिल अरबिया” में लिखते हैं—

“भारत पर अंग्रेज़ों के अधिकार कर लेने के बाद मुसलमानों के दो तरह के नेतृत्व सामने आए। एक तो धार्मिक नेतृत्व था, जिसका नेतृत्व उलमा-ए-दीन कर रहे थे और दूसरे नेतृत्व का पथ-प्रदर्शन सर सैयद अहमद ख़ाँ कर रहे थे। अंग्रेज़ों से नफ़रत की भावना जो मुसलमानों के दिलों में छिपी हुई थी उसने विशिष्टता के साथ इस विचारधारा को ताक़त पहुँचाई और अंग्रेज़ी सभ्यता-संस्कृति और उन शिक्षा संस्थानों के निराकरण के आह्वान हेतु सहायक सिद्ध हुई, जो उस सभ्यता की छाप रखते थे। अपने धर्म से निष्कपट प्रेम रखने वाले मुसलमानों की निगाहों में उन शिक्षा-संस्थानों का वातावरण दूषित व ज़हरीला था, जहाँ इस्लाम के विरुद्ध छात्रों के मन-मस्तिष्क में विष भरा जाता था।

मैंने इसके लक्षण वहाँ मध्यम धार्मिक वर्गों में देखे। वहाँ धार्मिक मदरसों में अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाई जाती, जबकि इस भाषा को सरकारी भाषा की हैसियत प्राप्त है और यह जनता और सरकार के मध्य सम्पर्क रखने की भाषा है उलमा हज़रात छात्रों को अंग्रेज़ों की रीत-रिवाज व परम्परा का अनुसरण करने और उनके तौर-तरीक़े और आदत से बचाने तथा पश्चिमी सभ्यता और उसके प्रदर्शन से सुरक्षित रखने के लिए धार्मिक पक्षपात की इस हद तक पहुँचे हुए हैं।” (पृ. 34,35)

अतः इस भावना का प्रभाव यह हुआ कि उलमा हज़रात से प्रभावित मुसलमानों ने जिनकी संख्या बहुत ज़्यादा थी, सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार किया, जबकि दूसरी क्रौमों ने उन्हें स्वीकार कर लिया। उन्होंने उनमें शिक्षा प्राप्त की, ताकि छोटी-छोटी सरकारी नौकरियाँ उनको मिल सकें जो अंग्रेज़ उनमें बाँटा करते थे। यद्यपि वे साधारण व तुच्छ ही हुआ करते थे, मगर बहरहाल ये नौकरियाँ उन कर्मचारियों के लिए अपने मुसलमान भाइयों की तुलना में भौतिक उन्नति व मेल-जोल के रास्ते ज़रूर खोल देती थीं।

अंग्रेज़ों के भारत पर सत्तासीन होने के प्रारम्भिक काल में जीवन कँ गाड़ी इसी पद्धति पर चलती रही कि गैर-मुस्लिम बहुलता के साथ अंग्रेज़ अधिकारियों का सहयोग करते रहे और उनकी शिक्षा-पद्धति तथा नौकरियों को अपनाते रहे, लेकिन मुस्लिम अल्पसंख्यक न केवल यह कि उस सहयोग से दूर रहे, बल्कि उसका विरोध भी करते रहे और उस धारे से अलग अपन विशिष्ट सभ्यता से चिमटे हुए खुश रहे।

इस सूरतेहाल को उन मुस्लिम संगठनों ने चिन्ता व फ़िक्र की निगाहों से देखा, जो अंग्रेज़ों और उनकी सभ्यता को उलमा की तरह शत्रुता की निगाह से नहीं देखते थे। उन लोगों ने महसूस किया कि उलमा के इस आचार-व्यवहार का परिणाम स्वाभाविक रूप से यह होगा कि मुसलमान इस आधुनिक सभ्यता-संस्कृति की दौड़ में पीछे रह जाएँगे, जो नए साम्राज्य के साथ आय है, जबकि भारत की वे दूसरी क्रौमों प्रगति कर रही हैं, जिन्होंने इस कल्च को अपना लिया है और धीरे-धीरे वे देश की प्राथमिक योजनाओं प

अधिकार करती जा रही हैं।

मुसलमानों और अंग्रेजों के मध्य बढ़ती कटुता के कारण न वे देश में उन्नति व प्रगति कर पाएँगे और न ही उनको सरकारी नौकरियाँ ही मिल पाएँगी, जिसके परिणामस्वरूप भारत में मुसलमानों का भविष्य अन्धकारमय होकर रह जाएगा।

इसी कारणवश ये लोग सर सैयद अहमद खाँ के नेतृत्व में उठ खड़े हुए। अंग्रेजों और मुसलमानों के मध्य वाद-विवाद को खत्म करने और दोनों पक्षों के दिलों में एक-दूसरे के प्रति भरोसा पैदा करने की कोशिश में व्यस्त हो गए, ताकि दोनों एक-दूसरे के करीब आ जाएँ और दोनों एक-दूसरे से लाभान्वित हों। इसी तरह उन लोगों ने मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी आकृष्ट किया जिसे अंग्रेजी सरकार ने देश में प्रचलित किया था।

फिर जब उन लोगों ने यह महसूस किया कि सरकारी स्कूलों में मुसलमानों के बच्चों को भेजना काफ़ी नहीं है, तो उन्होंने लोगों को एक इस्लामी शिक्षा केन्द्र खोलने की दावत दी, जिसमें मुसलमान बच्चे आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ अपनी धार्मिक शिक्षा भी प्राप्त कर सकें और फिर वे इस योग्य बन सकें कि पश्चिमी संस्कृति-सभ्यता के साथ-साथ अपने हिन्दू भाइयों के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश की उन्नति व प्रगति में भाग ले सकें।

सर सैयद अहमद खाँ का जन्म 27 अक्टूबर सन 1817 ई. में दिल्ली के सादात (सैयद) खानदान में हुआ था। आपने आधुनिक व धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त की। पिता की मृत्यु के बाद 22 वर्ष की अवस्था में आपने सन् 1838 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क के रूप में काम करना शुरू किया। अपनी मेहनत व योग्यता के बल पर तीन वर्ष के बाद सन 1841 ई. में मैनपुरी से उपन्यायाधीश की योग्यता प्राप्त की और विभिन्न स्थानों पर न्यायिक विभाग में काम किया। इस दौरान सन् 1857 ई. में क्रान्ति शुरू हो गई, उन दिनों वे बिजनौर में रह रहे थे। उनका विचार था कि उस वक़्त तक इस विद्रोह से कोई लाभ नहीं होगा, जब तक दोनों

शक्तियाँ बराबर न हों। इस शहर में उन्होंने बहुत-से अंग्रेज़ ख़ानदानों को क्रान्तिकारियों के हाथों से बचाया।

अंग्रेज़ ख़ानदानों की हिमायत के साथ-साथ उनका यह दृष्टिकोण क्रान्तिकारियों की नाराज़गी में वृद्धि करने, उन्हें किसी तौर पर क्रल्ल करने और उनसे छुटकारा पाने के विचार का कारण बना, लेकिन दूसरी ओर इन्हीं चीज़ों की वजह से अंग्रेज़ों की उनसे दोस्ती हुई।

इन परिस्थितियों में घिरे होने के बावजूद उन्होंने ऐसे नए स्कूल स्थापित करने का एलान किया, जिनमें मुसलमान बच्चे धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा (ख़ासकर अंग्रेज़ी) भी प्राप्त कर सकें। इस सिलसिले में वे अलीगढ़ आ गए। यहाँ पर उन्होंने उन धनवान मुसलमानों से इस स्कूल को स्थापित करने में आर्थिक सहायता की अपील की जो उनकी विचारधारा से सहमत थे। इन लोगों के सहयोग से सर सैयद अहमद ख़ाँ ने सन् 1875 ई. में मोहम्मडन-ऐंग्लो ओरिएंटल कॉलेज, अलीगढ़ की स्थापना की, जो कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारत सरकार ने इसे सन् 1920 ई. में विश्वविद्यालय स्वीकार किया।

सर सैयद अहमद ख़ाँ का इस स्कूल के लिए अंग्रेज़ शिक्षक और प्रिंसिपल पर भरोसा करना भी उन शक व संदेहों में वृद्धि का कारण बना, जो उस कॉलेज के सम्बन्ध से लोगों के दिलों में मौजूद थे। अतः उनके इस काम ने खुद उनके विरोधियों को अवसर दिया, जो बराबर उनका विरोध करते रहे। अतः पहले दिन से ही दोनों विचारधाराओं के बीच नफ़रत का बीज पड़ गया। अर्थात् सर सैयद अहमद ख़ाँ और उनका अलीगढ़ में स्थापित कॉलेज, जो उनके दृष्टिकोण का हामिल था और दूसरा धार्मिक विचारधारा के उलमा व क्रान्तिकारियों का, जो अंग्रेज़ों और उनकी सभ्यता से सख़्त नफ़रत करते थे। मुसलमानों में यह दो तरह की विचारधाराएँ पैदा हो गईं और आज भी किसी तौर पर विद्यमान हैं, यद्यपि दोनों के मध्य सख़्ती में बहुत कमी आई है।

असहयोग आन्दोलन, गाँधी जी और मुसलमान

■ अब्दुल-मुनअम अन-निम्र

असहयोग और सविनय अवज्ञा ये वे नाम हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध गाँधी जी से है। गाँधी जी के नेतृत्व में सन् 1921 ई. से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति (सन् 1947 ई.) तक देश को अंग्रेजों के प्रभुत्व से मुक्त कराने के लिए यह आन्दोलन चलाया गया था। लेकिन जब मैंने उस ज़माने के और उसके पहले के मुस्लिम इतिहास का अध्ययन किया, तो मुझे मालूम हुआ कि मुसलमानों के यहाँ पहले से ही एक ऐसा दृष्टिकोण मौजूद था जो गाँधी जी के दृष्टिकोण से बहुत कुछ मिलता-जुलता था, जबकि उस समय गाँधी जी राजनीति के क्षितिज पर नमूदार भी नहीं हुए थे।

इसी बात ने मुझे इस बात पर उद्यत किया कि मैं दोनों दृष्टिकोणों की जांच-पड़ताल करूँ, दोनों की तुलना करूँ और फिर बताऊँ कि उनके क्या परिणाम निकलें ?

इस आन्दोलन की जान और इसका स्पष्ट मार्ग गाँधी जी के नज़दीक यह था कि अंग्रेज़ी शासन से तो मुकाबला किया जाए, मगर उसके क़ानून के विरोध में मेल-जोल व शान्तिप्रियता का तरीक़ा अपनाया जाए। सरकार के साथ असहयोग तो हो, लेकिन उन सज़ाओं और तकलीफ़ों को धैर्य व सहनशीलता के साथ सहन किया जाए, जो इस सिलसिले में सामने आएँ, जैसे मारपीट और गिरफ़्तारियाँ। अतः इस असहयोग आन्दोलन की अग्रसरता में न तो सरकारी स्कूलों व कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त की जाती, न अंग्रेज़ी अदालतों में मुक़दमे ले जाए जाते और न उसकी सेना में शिरकत की जाती और जब सरकार कोई आदेश पारित करती, तो उसके विरोध प्रदर्शन के लिए उठ खड़ा हुआ जाता। यह सब कुछ असहयोग आन्दोलन के अधीन हुआ, जबकि असहयोग और सविनय अवज्ञा के मध्य बड़ा स्पष्ट अन्तर है,

जैसा कि उस्ताद फ़तही रिज़वान लिखते हैं—

‘असहयोग’ सरकार के साथ हर प्रकार के सहयोग से रुक जाना है, जिसके लिए न लोगों को विवश करना है और न सम्मेलन आयोजित करना है और न सरकार के निर्वाचन में भाग लेना है, यह केवल एक नकारात्मक क्रिया है, लेकिन सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) एक निरन्तर प्रयत्न व कोशिश है और सविनय अवज्ञा करनेवालों से उसकी यह माँग है कि वे उन ज़ालिमाना क़ानूनों को तोड़ें, जो सरकार ने बनाए हों। अतः जब सरकार और उसके क़ानून लोगों से यह कहें कि वे एकजुट होकर रास्ते पर न चलें, तो वे इकट्ठे होकर चलें और जब सरकार अस्त्र-शस्त्र लेकर चलने-फिरने से मना करे, तो वे अस्त्र-शस्त्र लेकर चलें इत्यादि।

मगर असहयोग और सविनय अवज्ञा एक-दूसरे से इस बात पर समान हैं कि दोनों ही हिंसा से रिक्त हैं। जो व्यक्ति सरकार के साथ किसी तरह का मामला नहीं करता, वह सरकार के लोगों पर अत्याचार भी नहीं करता और जो व्यक्ति सरकार के क़ानून का क्रियान्वयन नहीं करता, उसे ये लोग दुख भी नहीं देते। दोनों ही स्थितियों में वे सज़ाओं के लिए तैयार रहते हैं और सब्र व सुकून के साथ परेशानियों और दुखों को झेलते रहते हैं।

(अल-महात्मा गाँधी, पृष्ठ-239)

गाँधी जी अहिंसा आन्दोलन, मनोनिग्रह, सहनशीलता और अधिकार प्राप्ति के लिए बल व शक्ति प्रयोग न करने के दृष्टिकोण के आविष्कारक माने जाते हैं और उन्होंने इस दृष्टिकोण अर्थात् मनोनिग्रह व सहनशीलता के दृष्टिकोण को सबसे पहले स्वयं अपने आप पर उस व्यक्ति की भाँति जारी किया था, जो किसी सूफ़ी, फ़कीर और ब्रह्मज्ञानी की तरह अपनी मनोइच्छाओं पर अधिकार प्राप्त करना चाहता हो। ऐसा उन्होंने उस वक़्त किया था, जबकि वे दक्षिण अफ़्रीका में थे।

गाँधी जी अपने इस दृष्टिकोण मनोनिग्रह व सहनशीलता का जो पहला अनुभव अफ़्रीका में किया उसका कारण यह था कि वहाँ की सरकार ने यह क़ानून पारित किया था कि भारतीय निवासी एक विशेष पहचान चिन्ह

लगाए रखें और प्रशासनिक अधिकारियों की अनुमति के बिना एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जाएँ। इस कानून के पारित होने के बाद गाँधी जी ने भारतीयों का एक सम्मेलन किया, जिसमें उन्होंने इस कानून का पालन न करने का परामर्श दिया और कहा कि इस आज़ोल्लंघन के बदले में जो भी सज़ाएं उन्हें मिलेंगी, उसे वे बिना हिंसा के स्वीकार करेंगे। इस आन्दोलन का नाम उन्होंने 'सत्याग्रह' रखा।

गाँधी जी के इस परामर्श को उनके भारतीय भाइयों ने स्वीकार किया। उन्होंने कानून का विरोध किया और इस सिलसिले में उन्हें जिन सज़ाओं से भी दो-चार होना पड़ा, किसी तरह के संघर्ष व टकराव के बिना धैर्य और प्रसन्नता के साथ उन्हें सहन किया। अतः कुछ बातों में उन्हें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। यहीं से सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू हुआ और इस ओर निगाहें उठीं।

(सबीलुल-हक़ पृष्ठ-17)

पं. जवाहर लाल नेहरू ने एक सम्मेलन में जो गाँधी जी के 'अहिंसा के संसाधन' नामक दृष्टिकोण पर बहस करने के लिए आयोजित किया गया था, कहा, "गाँधी जी ने बुनियादी तौर पर कोई नई चीज़ पेश नहीं की, जहाँ तक इस दृष्टिकोण और उसकी बुनियाद का प्रश्न है, तो यह वही है, जिसकी घोषणा पिछली सदियों में प्राचीन भारतीय करते रहे हैं। गाँधी जी की विशेषता बस यह है कि उन्होंने केवल उन दृष्टिकोणों को पेश करने पर ही बस नहीं किया, बल्कि कार्यक्षेत्र में उसे कार्यान्वित भी किया।"

(रिसाला सक्राफ़तुल-हिन्द, मार्च-1953 ई.)

गाँधी जी अस्ल में जैन धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। ईसाइयत के नुमायाँ और प्राथमिक उक्ति में से एक है कि 'जो तुम्हारे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, तुम अपना बायाँ गाल भी उसके सामने कर दो' और इस्लाम अपनी पवित्र किताब कुरआन में यह एलान करता है—

“ऐ नबी, भलाई और बुराई समान नहीं है। तुम बुराई को उस नेकी से दूर करो जो बेहतरीन हो। तुम देखोगे कि तुम्हारे साथ जिसका वैर पड़ा हुआ था वह जिगरी दोस्त बन गया है।”

(कुरआन, सूरा-41 हा.मीम. सजदा, आयत-34)

गाँधी जी ने अपने नज़रिए 'अहिंसा' की ओर लोगों को बुलाया और लोगों के सामने उसकी व्याख्या करनी शुरू की तो मुसलमानों ने ही इस आन्दोलन को सबसे पहले क़बूल किया। या जैसा कि नेहरू जी ने कहा है—“ख़िलाफ़त कमेटी ने सबसे पहले इस प्रोग्राम को क़बूल किया और इस आन्दोलन की शुरुआत के लिए उसने एक अगस्त 1920 ई. की तारीख़ निर्धारित की, जबकि कांग्रेस ने उसे अपनाने पर ग़ौर भी नहीं किया। लोगों ने थोड़ा-थोड़ा इस नए तर्क को समझना शुरू कर दिया था। यद्यपि बहुत-से लीडर इसके द्वारा अधिकार प्राप्त करने की सम्भावना के बारे में चिन्तित व आशंकित थे और स्वयं गाँधी जी भी बहुत अधिक असमंजस के शिकार थे। गाँधी जी को विशेष रूप से उन मुसलमानों पर संदेह था, जिनकी भावनाएँ अंग्रेज़ों के विरुद्ध क्रोध से भड़की हुई थीं।” (नेहरू, पृष्ठ-129)

कांग्रेस ने सन् 1920 ई. में कलकत्ता और फिर नागपुर में आयोजित अपने सम्मेलन में इस नियम को अपनाया, प्रचार किया और इसे अपनाने वालों को संगठित किया। भारत के लोग एक छिपी हुई ज्वालामुखी बने हुए थे। अतः जब उन्हें गाँधी जी ने और मुस्लिम लीडर मौलाना आज़ाद, मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना शौकत अली की तरह के लोगों ने हरकत दी, तो यह आन्दोलन क़ाबू से बाहर हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत के कुछ शहरों के अन्दर उखाड़-पछाड़ की बहुत-सी घटनाएँ घटित हुईं। फिर भी यह आन्दोलन अपने मार्ग पर अग्रसर रहा और मुसलमानों ने हिम्मत व हौसले के द्वारा इस आन्दोलन को तेज़ किया।

28 जुलाई सन् 1921 ई. को तय किया गया कि ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारी का बहिष्कार किया जाए, जो इसी वर्ष नवम्बर में भारत आने वाले थे। जैसा कि इससे पहले विदेशी सामानों का बहिष्कार किया गया था। इधर 1921 ई. में कराची में आयोजित ख़िलाफ़त कमेटी के सम्मेलन में सेना से मुसलमानों के अलगाव के लिए प्रस्ताव पारित हुआ। अंग्रेज़ इससे भड़क उठे और उन्होंने शैख़ुल-इस्लाम मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना शौकत अली पर मुक़दमा क़ायम किया और फिर उन्हें जेल में कैद कर दिया।

जब 17 नवम्बर 1921 ई. में ब्रिटिश उत्तराधिकारी बम्बई (मुम्बई) पहुँचे, तो उन्हें पूर्णतया बहिष्कार का सामना उसी तरह करना पड़ा, जिस तरह क्रौम ने विदेशी सामानों को जलाने के प्रस्ताव को एक बड़े सम्मेलन में मरित किया था। ब्रिटिश उत्तराधिकारी के बहिष्कार की सफलता के बावजूद क्रौम का अमल गाँधी जी के इच्छानुसार न रह सका और उसने असंख्य स्थानों पर हिंसा और अनीति से काम लिया, जिससे गाँधी जी को गहरा आघात पहुँचा और उन्होंने क्रौम के हिंसा के प्रतिकार में और उसके गुनाहों के प्रायश्चित्त के रूप में व्रत रखना शुरू किया।

इस अवसर पर उनको एहसास हुआ कि क्रौम इस आन्दोलन को अपनाने के लिए तैयार नहीं है। अतः उन्होंने इस प्रोग्राम को ही निरस्त कर देया और क्रौम को इस दृष्टिकोण के फ़ायदे के बारे में समझाने-बुझाने के काम में लग गए। यह समय वह था, जबकि क्रौम में हिंसा पूरे उफान पर थी और ब्रिटिश सरकार भी उनका मुक्काबला हिंसा से ही कर रही थी। हज़ारों लोगों को गिरफ़्तार करके उसने जेलों में डाल दिया था।

गाँधी जी राजनीति में एक धार्मिक नेता की भावना लेकर दाखिल हुए थे और उनका इरादा यह था कि भारत को नए सिरे से जागरूक करने के लिए इस अध्यात्मिक भावना से काम लिया जाए और यह एक अच्छा काम है, लेकिन कुछ ही दिनों के बाद उनका यह विचार बदल गया। दूसरा वेश्वयुद्ध शुरू हो चुका था और वायसराय ने भारत की किसी भी पार्टी से रामर्श किए बिना यह घोषणा कर दी कि भारत मित्र देशों की पंक्ति में शामिल होगा और हर सम्भव हद तक मित्र देशों के साथ सहयोग करेगा और अपनी सेनाएँ भेजेगा। इस अवसर पर भारतीय कांग्रेस पार्टी के लीडरों ने जेनमें गाँधी जी भी थे, एक मीटिंग की जिसका ऐजेंडा यह था कि दूसरे वेश्व युद्ध के बारे में भारत की नीति क्या हो और वह इस युद्ध में अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हों या न हों।

उस वक्त के कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद और उनके दूसरे बहुत-से लोगों की राय यह थी कि ऐसे समय जब खुद भारत वर्ष स्वतंत्रता की नेमत से वंचित है, उसके लिए यह सम्भव नहीं कि उस युद्ध

का समर्थन करे, जिसका दावा मित्र देश कर रहे हैं और इन हालात में कि भारत पर अंग्रेजों के अत्याचार हो रहे हैं और अंग्रेज भारतवासियों को आज़ादी न देने के अपने वचन पर क़ायम है, तो हम भारतवासियों के लिए उनकी सहायता करना बिलकुल सम्भव नहीं, लेकिन अगर वे वादा कर ले कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वतंत्र करेंगे, तो फिर भारत उनकी हिमायत व समर्थन में पीछे नहीं हटेगा। अगर यह प्रस्ताव स्वीकार हो तो अंग्रेज भारत को स्वतंत्र करने की प्रक्रिया की घोषणा करें और हम युद्ध में शामिल होने और उनकी हिमायत व समर्थन की घोषणा करें।

मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद पत्रिका 'सक्राफ़तुल-हिन्द' में प्रकाशित अपने संस्मरण में लिखते हैं कि "गाँधी जी ने इस मसले पर ख़ूब सोच-विचार किया और कांग्रेस की कार्यकारिणी में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका भाव यह था कि 'भारत पर ज़रूरी है कि वह इस प्रशासनिक संघर्ष से पैदा हुई परिस्थितियों के पेशेनज़र अपने दृष्टिकोण की घोषणा कर दे, गाँधी जी कहते हैं कि आने वाली जंग में भारत का सम्मिलित न होना सही तरीन दृष्टिकोण है। चाहे परिस्थितियाँ कुछ भी हों और इस समानता के आधार पर स्वतंत्रता की सम्भावना ही क्यों न स्पष्ट होती हो।"

(पत्रिका 'सक्राफ़तुल-हिन्द' दिसम्बर 1958 ई. पृष्ठ-105)

मौलाना आज़ाद आगे फ़रमाते हैं, "कांग्रेस का अध्यक्ष होने की हैसियत से मेरी यह ज़िम्मेदारी थी कि मैं भारत को लोकतांत्रिक छावनी तक इस शर्त के साथ ले जाऊँ कि वह स्वतंत्रता प्राप्त कर लेगा और इस बात में कि 'लोकतंत्र भारतवासियों के दिल की आवाज़ है' कोई मतभेद नहीं था।"

"हमारी राह में भारत की गुलामी और गाँधी जी के अलावा दूसरा कोई रोड़ा न था, ये इस समस्या को इस नज़र से नहीं देख रहे थे, जिससे हम देख रहे थे। इनके नज़दीक असूली समस्या केवल अहिंसा थी न कि देश की स्वतंत्रता। मेरा विचार इसके विपरीत था। अतः मैंने ज़ोरदार आवाज़ में दिल्ली में इसका स्पष्टीकरण कर दिया था कि कांग्रेस पार्टी कोई नम्र समझौता प्रिय संस्था नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी संस्था है, जिसका उद्देश्य

भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करना है। मेरा विचार आज भी यही है के गाँधी जी के विचार भारत के हालात से मेल नहीं खाते थे और न ही शास्त्विक घटना का उनसे कोई सम्बन्ध था।”

वे आगे लिखते हैं, “मैं किसी तरह गाँधी जी के विचारों और उनकी राय से सहमत न हो सका, क्योंकि अहिंसा की समस्या मेरे नज़दीक केवल एक राजनीतिक कार्य-प्रणाली की समस्या थी और उसकी गणना धार्मिक आस्था में न थी, जैसा कि गाँधी जी समझते थे। मैं समझता था कि भारतवासी जब तारे उपायों और वैकल्पिक सुझावों से आजिज़ आ चुके हैं तो हथियार सम्भाल लेने में वे बिलकुल हक़ पर हैं।”

मौलाना अबुल-कलाम की राय बहुत स्पष्ट थी, जो राष्ट्रीय समस्याओं से एकमत, उचित और तर्कयुक्त थी, लेकिन फिर भी गाँधी जी अपने दृष्टिकोण पर जमे रहे। गाँधी जी अपनी राय में अकेले न थे, बल्कि कुछ दूसरे लोगों ने भी उनकी राय का समर्थन किया और कार्यकारिणी में गाँधी जी का समर्थन किया, यह वे लोग थे जो उनके पीछे आँख बन्द करके बे समझे-बूझे चलते थे। उन लोगों की सूची में भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का नाम सबसे ऊपर था।

मौलाना आज़ाद फ़रमाते हैं, “गाँधी जी का अपने दृष्टिकोण और उसकी सेवा में अपने आपको फ़ना कर देने की भी भावना इतनी तीव्र हो गई थी के उन्होंने एक खुला ख़त ब्रिटिश क्रौम के नाम भेजा, जिसमें उन्होंने इच्छा प्रकट की कि ब्रिटेन हिटलर से अस्त्र-शस्त्र से युद्ध न करे, बल्कि अध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से युद्ध लड़े और केवल इसी पर उन्होंने बस नहीं किया, बल्कि इस सिलसिले में उन्होंने भारत के वायसराय से भी मुलाकात करने की इच्छा प्रकट की और मुलाकात में इस बात पर ज़ोर डाला कि उनके इस दृष्टिकोण को क़बूल करें और इसे ब्रिटेन की सरकार तक पहुँचाएँ।”

मौलाना आज़ाद इस मुलाकात का हाल बयान करते हुए आगे लिखते हैं, “गाँधी जी ने जो कुछ ब्रिटिश पदाधिकारियों से कहा, जिसका भाव यह था कि ब्रिटिश क्रौम के लिए ज़रूरी है कि वह शस्त्र के उपयोग से परहेज़

करे और हिटलर के मुक्काबले में केवल आध्यात्मिक शक्ति पर भरोसा करे अतः इस सलाह से गवर्नर जनरल आश्चर्यचकित हुआ। यह सलाह उसको अजीब और अप्राकृतिक मालूम हुई, अतः इस बार गाँधी जी के साथ वह नियमानुसार व्यवहार न कर सका। अर्थात् उसका हमेशा से यह तरीका था कि वह घंटी बजाकर अपने सचिव को बुलाता था कि वह गाँधी जी के उनकी मोटर तक शिष्टाचार पूर्वक पहुँचा दे, लेकिन इस बार न तो उसने घंटी बजाई और न ही उसने अपने सचिव को बुलाया, अतः गाँधी जी अकेले उठे और वापस चले आए।”

(‘सक्राफ़तुल-हिन्द’ जुलाई 1959 ई. पृष्ठ-9,10)

जब गाँधी जी से मेरी मुलाकात हुई, तो उन्होंने उस मुलाकात का विवरण मुझसे बयान किया और अपना आश्चर्य प्रकट किया कि गवर्नर जनरल अपने नियमानुसार शिष्टाचार का बरताव भी न कर सका, तो मैंने कहा कि वास्तव में आपकी इस सलाह ने इस हद तक उस पर दहशत तार कर दी कि उसके दिमाग से पारम्परिक शिष्टाचार का विचार ही निकल गया मेरी इस टीका-टिप्पणी पर वे खूब हँसे।

(‘सक्राफ़तुल-हिन्द’ जुलाई 1959 ई.)

एक सांस्कृतिक सम्मेलन जो भारत में गाँधी जी के तरीकों पर बहस व तर्क-वितर्क के लिए आयोजित किया गया था, उसमें मौलाना आज़ाद ने गाँधी जी के दृष्टिकोण ‘अहिंसा’ और फिर उस पर मज़बूती से जमे रहने का विश्लेषण करते हुए कहा—“गाँधी जी का विचार था कि अगर ब्रिटेन स्वयं भी भारत को आज़ादी देने की पेशकश इस शर्त पर करे कि भारत उसके साथ युद्ध में सम्मिलित हो, तब भी वह इस पेशकश को ठुकरा दें, क्योंकि वे कहते थे कि अहिंसा जीवन की अमूल्य निधि है। वे इस विषय पर किसी तरह के भी समझौते के लिए कोई भी तर्कसंगत कारण नहीं पाते थे, चाहे वह भारत की स्वतंत्रता के बारे में ही क्यों न हो। लेकिन इस अवसर पर भारतीय कांग्रेस पार्टी का अध्यक्ष होते हुए भी मैं उनकी विचारधारा से सहमत न हो सका, बावजूद इसके कि वे पूरी एकता और सच्चे नियम व सिद्धान्तों के तहत लड़ रहे थे। मगर वह एक बात जो हमें उनके साथ

लकर कोशिश करने से रोक रही थी, वह भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अस्तित्व था। अगर यह रुकावट खत्म हो जाती, तो फिर भारतवासियों के ए नाज़ियों के हमलों के मुक़ाबले में लोकतांत्रिक शक्तियों की सहायता करने का कोई तर्कसंगत कारण न था।”

(‘सक्राफ़तुल-हिन्द’ जुलाई 1959 ई.)

इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी जी अहिंसा में आत्मसात चुके थे और उनकी यह इच्छा थी कि पूरा भारतवर्ष अहिंसावादी हो जाए, तब इससे हट जाने की क़ीमत उन्हें भारत की स्वतंत्रता के ही रूप में क्यों मिले। देश की स्वतंत्रता के लिए भी वह इससे विरक्त होने के लिए तैयार न थे।

गाँधी जी के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि वह जिस तरह अपने प्रेक्षांतों के पीछे चल रहे थे उस तरह न तो उस ज़माने के साथ चल रहे थे, जिसमें वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे और न ही अपने देश की लड़ाई और ज़रूरतों का ही साथ दे रहे थे।

गाँधी जी के दृष्टिकोण से सम्बन्धित उस्ताद क़दरी क़लउजी के इस विश्लेषण से मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, जहाँ वे लिखते हैं, “निस्सन्देह ज़माना बदल चुका है। अतः ज़रूरी है कि लोगों के साथ-साथ भारत के लीडर गाँधी भी बदलें। गाँधी जी ने भारत को जागरूक किया और उसमें राष्ट्रीय व सामूहिक उद्देश्यों और मानवता की चेतना पैदा की। यह गाँधी जी की प्रतिज्ञा है, जो बहुत महान और बहुत ही मनोवांछित है, लेकिन किसी भी क़ौम के लिए स्वतंत्रता, स्वाधीनता, और मान-सम्मान का केवल राग अलापना काफ़ी नहीं, बल्कि निरन्तर प्रयत्न, त्याग और कुरबानी के चरणों से भी गुज़रना होता है। भारत इस चरण को पार करके अपने लीडर से भी आगे बढ़ चुका है। उसमें क्रान्ति की लहरें फूट पड़ी हैं और अब उसका पानी व्यर्थ ही उसके आगे बाँध बाँध रहा है। (गाँधी जी अबुल-हिन्द, पृष्ठ-92,93)

भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वर्णिम काल

■ अब्दुल-मुनअम अन-निम्र

सविनय अवज्ञा आन्दोलन जिसकी घोषणा महात्मा गाँधी जी ने की थी और जिस दौर में यह आन्दोलन चला था, वह वास्तव में भारत के स्वतंत्रता के इतिहास का स्वर्णिम काल था, जिसमें भारत ने अपने निवासियों के मध्य धार्मिक मतभेद व राष्ट्रीयता के बावजूद पूर्ण एकता का अनुभव और दर्शन किया, विशेष रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के (जो भारत के सबसे बड़े अल्पसंख्यक थे) मध्य। उस समय देश साम्राज्यवादी ताकतों के प्रभाव को खत्म करने के बिलकुल करीब पहुँच चुका था।

असहयोग आन्दोलन के बारे में मुसलमान एक ऐसे प्राचीन दृष्टिकोण को मानते थे, जिसे उनके दीन (इस्लाम) से ताकत मिल रही थी। यही कारण था कि भारतवर्ष के सारे निवासियों की तुलना में वे साम्राज्यवादविहीन शासन तंत्र की दावत स्वीकार करने में सबसे आगे थे। उसे लागू करने में सबसे अधिक जोशीले और इस राह में कुरबानियाँ देने में भी सबसे आगे थे। यद्यपि यह भी सच है कि कुछ मुस्लिम लीडर जैसे मिस्टर जिनाह इत्यादि ने अवज्ञा आन्दोलन को पसन्द नहीं किया था और न क़ौम के लिए उस हितकारी समझा, क्योंकि उनकी दृष्टि में विद्यार्थियों का स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों का बहिष्कार करना लाभकारी न था और न ही आधुनिक यंत्रों का बहिष्कार करके कपड़े की कारीगरी में हथकरघों पर भरोसा करने से कोई परिणाम निकलता था।

भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक और कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर इस मामले में मिस्टर जिनाह के राय से सहमत थे। उन्हें भी अवज्ञा आन्दोलन और उससे प्राप्त होनेवाले सम्भावित लाभों से मतभेद था। फिर यह भी कि इस बारे में यह राय रखनेवाले दो ही नहीं, बल्कि बहुत-से दूसरे लीडर भी इन दोनों के

य से सहमत थे।

लेकिन इन सारी बातों से इस आन्दोलन पर आमतौर पर कोई प्रभाव पड़ा, जो सारे भारत में फैल चुका था। यह एक ऐसा आन्दोलन था, जिसके झंडे तले सारे भारतीय जमा हो गए थे। इसमें न दो धर्मों के बीच कोई अन्तर था, और न दो विभिन्न क्रौमों के मध्य। भारत ने इस दौरान म, मुहब्बत और आपसी सहयोग की जो भावना अपने निवासियों के बीच खी, उसे न इससे पहले कभी किसी ने देखा था और न उसके बाद।

खिलाफत आन्दोलन के समर्थन में गाँधी जी का मुसलमानों के साथ द्वाव्यवहार एक ऐसा जादू था, जिसने उनके आसपास सारे मुसलमानों को कटूठा कर दिया। उन्होंने सारी क्रौम को साम्राज्यवाद के विरुद्ध जमा कर डेया और सब लोग इस भाईचारगी और एकता पर खुश हुए। इस आन्दोलन ने उनके मान-सम्मान को बढ़ाया और उनके उद्देश्य को संप्राप्ति 5 करीब पहुँचा दिया।

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के एक सक्रिय सदस्य, जिन्होंने इस आन्दोलन का अवलोकन किया था और उसमें सम्मिलित भी हुए थे, इस आन्दोलन से पैदा होने वाले प्रेम-मुहब्बत को बड़ी ही दिलचस्पी और सन्नता के साथ बयान किया है।

उस्ताद कबीर अब्बास उक्ताद की एक रचना में गाँधी जी, उनके जीवन, उनके संघर्षों और उनकी शिक्षाओं पर प्रकाश डाला गया है। वे लिखते हैं—

“उस वक्त के बम्बई के गवर्नर लार्ड लाइड ने इसकी गवाही दी है कि इन 1922 ई. में गाँधी जी भारत की स्वतंत्रता के बिलकुल करीब पहुँच गए थे, मगर उन्होंने शान्तिप्रिय मुक्राबले के कार्यक्रम को स्थगित करने की तोषणा कर दी?” पं. जवाहर लाल नेहरू जी कहते हैं—

“गिरफ्तारियाँ बहुत ज्यादा हुईं और साम्राज्यवाद असहयोग आन्दोलन को बहुत उग्र रूप धारण कर लिया, उसकी लहरें बहुत-से उन लोगों को भी अपने साथ बहा ले गईं, जो इससे पहले उसमें शरीक न थे। लोग अपनी च्छा से अपने आपको गिरफ्तार कराने के लिए आगे बढ़े, यहाँ तक कि

अंग्रेजी राज के कर्मचारियों ने भी अपने आपको गिरफ्तार कराया, जे अपने-अपने कार्यालयों से आ रहे थे। वे अपने घरों की ओर जाने के बजाय जेलों की ओर प्रस्थान कर गए।”

(An Autobiography : Toward Freedom, पृ.-21, पं. नेहरू के स्वयं लिखित जीवनी

“दिसम्बर 1921 ई. और जनवरी 1922 ई. के दो महीनों में असहयोग आन्दोलन में जेल जानेवालों की संख्या का अनुमान तीस हजार से अधिक का किया गया है। इसके बावजूद सारे नेताओं, कार्यकर्ताओं और आन्दोलन का प्रचार करनेवाले जेलों में बन्द किए जा चुके थे।” पं. नेहरू सविनय अवज्ञा आन्दोलन, तत्कालीन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर और अधिक रौशन डालते हुए अपनी उक्त पुस्तक में लिखते हैं—

“इधर हमारी सहनशीलता और भरोसा बढ़ता जाता था, उधर सरकार में अराजकता व कुव्यवस्था फैल रही थी। उसकी समझ में न आता था कि क्या हो रहा है। ऐसा विदित होता था कि भारत की वह पुरानी दुनिया जिसे वह देखती चली आ रही थी, बदल रही है। इसलिए उसमें सख्ती की एक नई भावना पैदा हो गई थी। उसका आत्म-विश्वास, निडरता और उसकी धाक देखते ही देखते गायब हो रही थी। थोड़ी बहुत सख्ती से आन्दोलन का और शक्ति प्राप्त हुई थी। अतः शासन तंत्र ने काफ़ी दिनों के टालमटोल के बाद बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डाला, क्योंकि वह डरती थी कि खुदा जा इसका परिणाम क्या हो। भारतीय सेना विश्वसनीय है या नहीं? पुलिस आदेश का पालन करेगी या नहीं? इसी असमन्जस्य में वे ग्रस्त थे। भारत के वायसराय लार्ड रीडिंग ने स्वयं दिसम्बर 1921 ई. में कहा था, “शासन तंत्र अजीब उलझन व उधेड़बुन में है।” (पृ. 49)

“उस ज़माने में प्रायः अंग्रेज़ पदाधिकारियों के होशो-हवास उड़ गए थे उनके मन-मस्तिष्क पर बड़ा दबाव पड़ रहा था। देश में अंग्रेज़ों का विरोध प्रदर्शन और अवज्ञा की भावना बराबर बढ़ रही थी, जो सरकारी वर्गों पर डरावनी और काली-काली घटाओं की भाँति छा गई थी और चूँकि इस

ख़्ती का लवलेश न था, इसलिए अधिकारियों को बलात् अत्याचार करने का कोई बहाना भी न मिलता था। अंग्रेज़ आमतौर पर इसके क्रायल न थे के भारतीय वास्तव में अहिंसा के अनुयाई हैं। वह समझते थे कि यह सब मोखा और छल है। किसी गुप्त साज़िश को छिपाने के लिए एक पर्दा है, जो केसी दिन हट जाएगा और भारत में ज़बरदस्त विद्रोह मच जाएगा।”

इस तरह ब्रिटिश धाक व दबदबा ख़त्म हो रहा था और अब केवल एक ऐसे सतर्क आक्रमण की आवश्यकता थी जो शासनतंत्र के परखच्चे उड़ा दे, क्योंकि उसकी सुरक्षा केवल हज़ार फ़ौज कर रही थी, फिर या तो पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती या कम-से-कम स्वतंत्र होने की सम्भावना ज़्यादा हो जाती, लेकिन इसके बाद क्या हुआ ? पं. जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं—

“फ़रवरी 1922 ई. के आरम्भ में अचानक सारा दृश्य बदल गया। जेलख़ाने में यह सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य और परेशानी हुई कि गाँधी जी ने सारी कार्रवाईयों एक दम से रोक दी और असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया। अख़बारों में हमने यह भी पढ़ा कि ‘चौरा-चौरी’ की घटना के आधार पर उन्होंने यह क़दम उठाया, हमें स्वतंत्रता आन्दोलन के स्थगित हो जाने की ख़बर सुनकर अच्छा नहीं लगा, क्योंकि इस वक़्त हमारी ताक़त व शक्ति बढ़ी हुई थी और हम हर मोर्चे पर आगे बढ़ रहे थे, लेकिन जेलख़ाने के अन्दर हमारी निराशा और आवेश से क्या परिणाम निकल सकता था, अतः असहयोग आन्दोलन ख़त्म हो गया और साम्राज्यवाद विहीन असहयोग आन्दोलन की कली खिलने से पहले मुरझा गई। महीनों की भागदौड़ और परेशानी के बाद ब्रिटिश सरकार ने भी राहत की सांस ली। अब उसे पहली बार अवसर मिला कि चरणबद्ध तरीके से इस पर कार्रवाई करे। अन्तः कुछ सप्ताह के अन्दर-अन्दर उसने गाँधी जी को गिरफ़्तार करके लम्बी अवधि के लिए जेल में डाल दिया।”

गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर देने के निर्णय की पं. जवाहर लाल नेहरू आलोचना करते हुए अपनी नाराज़गी अपनी उक्त पुस्तक में ‘अहिंसा या तलवार’ शीर्षकान्तर्गत लिखते हैं—

“असहयोग आन्दोलन का अचानक स्थगित हो जाना, सम्भवतः गाँधी जी के अतिरिक्त सारे वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं को बुरा लगा। मेरे पिता भी जो उस वक़्त जेल में ही थे, इससे बहुत अप्रसन्न हुए। नौजवान व स्वाभाविक रूप से अधिक उत्तेजित हुए, क्योंकि हमारी आशाओं के क़िले का इस स्थगन ने अचानक धराशाई कर दिया। ज़ाहिर है कि इस कार्य की यह प्रतिक्रिया होनी थी। स्थगन से अधिक हम उन कारणों से जो स्थगन के पक्ष में पेश किए गए और उन परिणामों से जो उनसे निकलते थे, घबरा गए।”

(पृ. 57)

इस तरह पं. नेहरू जी असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर देने का गाँधी जी के प्रस्ताव पर तल्ख़, गर्म, लेकिन नपी-तुली आलोचना करते हैं। यह प्रश्न बिलकुल सच है कि आख़िर वह कौन-सी चीज़ है, जो भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए हानिकारक हो सकती थी, जबकि ज़ालिम अत्याचारी अंग्रेज़ों को एक संगठन ने क़त्ल किया था? फिर उन अत्याचारियों का क़त्ल होना क्यों हमारी नींदें हराम कर सकता है? और हम उन सैकड़ों भारतवासियों को क्यों भूल जाते हैं, जो अंग्रेज़ों के भारत में क़दम रखने के समय से उनके साम्राज्यवादी उद्देश्यों की भेंट चढ़ गए ?

यह हम कैसे भूल सकते हैं कि पूरी-की-पूरी क्रौम को कठोर यातना ग्रस्त किया गया, उसका रक्त चूसा गया, उसकी स्वतंत्रता छीनी गई और मानवता ख़त्म कर दी गई। फिर यह अजीब बात है कि उन ज़ालिम अंग्रेज़ सिपाहियों का एक दूर-दराज़ गाँव में कुछ पीड़ित व शोषित वर्ग के लोगों के हाथों क़त्ल हो जाना हमारी रूहों को व्याकुल व बेचैन कर देता है, जिन्होंने केवल अपने प्राणों की रक्षा के लिए यह कर्म किया था। यह बात और भी अजीब है कि हम आन्दोलन को उस वक़्त स्थगित कर देते हैं, जबकि वह अपने उत्थान पर पहुँच चुका था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता और भाईचारा की छत्रछाया में अपना फल प्राप्त करने के क़रीब पहुँच चुका था, जिसकी गवाही स्वयं अंग्रेज़ों ने दी है और बम्बई के गवर्नर की गवाही हम पेश कर चुके हैं।

मुसलमान इस आन्दोलन में इस तरह आगे-आगे थे, जैसे इस आन्दोलन

। केवल उन्हीं को लाभ हो रहा हो और वास्तव में मुसलमान अंग्रेजों की जह से क्षय रोग की बीमारी में ग्रस्त हो गए थे, इसलिए कि अंग्रेजों ने उन्हीं 5 हाथों से शासन छीना था। मुसलमानों ने भारत और भारत से बाहर स्लामी देशों में अपनी नीतियों के लिए अच्छी और बहुमूल्य कुरबानियाँ दीं और उस लम्हे की प्रतीक्षा में थे कि कब दुश्मन पर सफलता प्राप्त कर लें और उसे अपने देश से बाहर निकाल दें।

यह भी अजीब बात है कि गाँधी जी को उस वक्त तो क्रोध आता है, जबकि एक गाँव के पीड़ित और शोषित निवासी कुछ अत्याचारी अंग्रेजों की हत्या कर देते हैं, लेकिन भारतीय सेना के कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ पर आक्रमण करने से उन्हें आमतौर पर क्रोध नहीं आता और न देश विभाजन के वक्त उन क्षेत्रों में मुसलमानों के सामूहिक हत्या पर वे खूफ्रा होते नज़र आते हैं।

एक समकालीन भारतीय ने, जो इस आन्दोलन में शामिल थे, इस वेचित्र प्रस्ताव का स्पष्टीकरण करते हुए मुझसे फ़रमाया—

“गाँधी जी ने देखा कि आन्दोलन अपनी कोशिशों का प्रतिफल प्राप्त कर लेने के बिलकुल करीब पहुँच गया है और इस आन्दोलन में मुसलमानों ने नुमाया और सर्वोपरि हैं और वही दूसरे लोगों से पहले इसके लिए दावत देने, काम करने और कोशिशों में लगे हुए हैं, अगर आन्दोलन इस वक्त सफल हो गया, तो मुसलमानों को यह सम्मान प्राप्त होगा और वही लोग फल प्राप्त करने के वक्त प्रथम पंक्ति में नज़र आएँगे और इस तरह उनका मान-सम्मान व प्रतिष्ठा उन्हें वापस मिल जाएगी। यह एक ऐसी बात थी, जैसे कोई भी हिन्दू पसन्द नहीं करता था, चाहे वह गाँधी जी ही क्यों न हों और यह कुछ दूर भी नहीं, इसलिए कि गाँधी जी अपने अच्छे गुणों के बावजूद अपने धर्म के बारे में बहुत कट्टर थे और दोनों प्रतिद्वंद्वी संगठनों के मध्य समझौते में बाधक होते रहे।

(‘मुशाहिदात फ़िल-हिन्द’, सैयदा अमीना सईद)

दूसरे शब्दों में मुसलमानों के हाथ में भारत की सत्ता व नेतृत्व के

मुक़ाबले में गाँधी जी इसे अच्छा समझते थे कि भारत की सत्ता अंग्रेजों के अधीन रखी जाए। अगर हम इस भारतीय समकालीन कार्यकर्ता की राय के अनुसार गवाह व मिसालें तलाश करेंगे तो हमको मालूम होगा कि गाँधी जी ने सन् 1920 ई. तक ब्रिटेन के साथ घनिष्ठ मित्रता रखी और उस वक़्त भी जब उन्होंने असहयोग आन्दोलन की घोषणा की। इस मित्रता व उन्होंने बिलकुल ख़त्म नहीं किया और न ही उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता और ब्रिटेन से अलग होने के लिए आगे क़दम बढ़ाया। सन् 1930 ई. तक उन्होंने सविस्तार या सांकेतिक रूप से एक शब्द भी ऐसा नहीं कहा है, जिससे य समझा जा सकता हो कि वे पूर्ण स्वतंत्रता और ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होना चाहते हैं, बल्कि खुद कांग्रेस के प्लेटफ़ार्म से भी और उसके बाहर वह इसके विरोधी ही नज़र आते थे, यहाँ तक कि परिस्थितियों ने और जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में नवयुवकों के संगठन ने 'होम रूल' के बजाय 'पूर्ण स्वतंत्रता की माँग' का समर्थन करने पर विवश कर दिया।

आज़ादी के दीवाने मौलवी बरकतुल्लाह

■ संपादन प्रभाग

अमेरिका के उत्तरी केलीफ़ोर्निया स्थित सॉन फ्रांसिस्को नगर में 65 वर्ष की उम्र में मौलवी बरकतुल्लाह का देहान्त हुआ। उनका पूरा नाम मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह है। वे सन् 1915-16 में काबुल स्थित भारतीय अस्थाई सरकार के प्रधानमंत्री भी रहे, जो राजा महेन्द्र प्रताप के प्रयासों का फल था। राजा महेन्द्र प्रताप इस सरकार के राष्ट्रपति थे। इन दोनों को हिन्दुस्तान का पहला प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति बनने का गौरव प्राप्त है।

मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह प्रारम्भ से ही देशप्रेमी और क्रान्तिकारी विचारों के व्यक्ति थे। स्वाभाविक था कि उन्हें उस सरकार का प्रधानमंत्री बनाया गया, जो भारत को अंग्रेज़-हुकूमत की गुलामी से छुटकारा दिलाने के लिए बनी थी। उस समय काबुल सरकार अमीर हबीबुल्लाह ख़ाँ की थी। ज़ाहिर है कि अमीर हबीबुल्लाह ख़ाँ का उस अस्थाई सरकार को समर्थन प्राप्त था।

सन् 1914 में प्रारम्भ हुए यूरोपीय महायुद्ध की समाप्ति पर काबुल स्थित अस्थाई भारत सरकार भंग हो गई और मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह यूरोप चले गए। वहाँ उन्होंने लगातार दस वर्षों तक भारतीय स्वतंत्रता का प्रचार किया।

सन् 1924 में मौलवी बरकतुल्लाह ने सोवियत शासन प्रणाली का बारीकी से अध्ययन किया और फिर बर्लिन चले गए, बर्लिन से ही उन्होंने 'अल-इस्लाहे' नाम से उर्दू भाषा में पत्र निकाला, जिसमें भारतीय स्वतंत्रता पर आधारित सामग्री होती थी। बाद में धनाभाव के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा।

फ़रवरी 1927 ई. में मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह ने ब्रसेल्स में होनेवाली

साम्राज्यवाद विरोधी परिषद में ग़दर पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया था। भारत से राष्ट्रीय कांग्रेस की तरफ़ से उक्त परिषद में पं. जवाहरलाल नेहरू भेजे गए थे। इस परिषद का जोशीला और रोमांचकारी संस्मरण पं. नेहरू ने अपनी रचना 'मेरी कहानी' में लिखा है। नेहरू लिखते हैं—उक्त परिषद में राष्ट्रीय गुप्तचरों की भरमार थी और कुछ गुप्तचर तो किसी देश या संस्था के प्रतिनिधि की हैसियत से परिषद में शामिल हुए थे जावा, हिंदचीन, फ़िलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ़्रीका और अरब देशों के प्रतिनिधि भी उक्त परिषद में आए थे।

स्पष्ट है कि उक्त परिषद को साम्राज्यवादी सरकारों ने भी महत्वपूर्ण माना था। इस अवसर पर मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह ने कहा था, “संसार की दबी हुई, सताई गई और गुलाम क्रौमों की आज़ादी के लिए मैं अपनी और पार्टी की सेवाएँ अर्पित करता हूँ।”

मौलवी बरकतुल्लाह के भाषण का प्रतिनिधियों पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा था। यह बात उनके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को उजागर करती है, क्योंकि ग़दर पार्टी के अधिकृत प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने उक्त घोषणा की थी।

उक्त कॉन्फ़्रेंस के पश्चात नवम्बर 1927 ई. में सॉन फ्रांसिस्को में ग़दर पार्टी का सम्मेलन हुआ था। मौलवी बरकतुल्लाह को उक्त सम्मेलन में आमंत्रित किया गया। उस समय मौलवी बरकतुल्लाह का स्वास्थ्य ख़राब था। वे बीमार थे और वहाँ जाने की उनका स्वास्थ्य उन्हें इजाज़त नहीं दे रहा था, फिर भी वह वहाँ गए। वह ग़दर पार्टी के प्रारम्भिक सदस्यों में से थे, और बड़े सम्मान से देखे जाते थे। वहाँ उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत की गुलामी से भारत की मुक्ति के लिए मार्मिक अपील की थी और तब तक संघर्ष जारी रखने को कहा था, जब तक भारत आज़ाद न हो जाए। ग़दर पार्टी के उक्त सम्मेलन में भाग लेने के बाद वह सख़्त बीमार पड़ गए। उस समय उनकी आयु 65 साल की थी। भूख, प्यास, भाग-दौड़ और जीवन व्यापी संघर्ष ने उन्हें जर्जर कर दिया था। 65 में से 30 वर्ष उनके एक देश से दूसरे देश में भागते-भागते गुज़रे थे। फिर सद्भावनाओं का अभाव, लक्ष्य

ता प्राप्त न होना, यानी भारत को अंग्रेज़ दासता से मुक्त न कर पाना आदि बातों ने उन्हें तोड़ दिया था। अन्ततः 5 जनवरी, 1928 ई. को वे स्वर्ग सेधार गए।

भारत की आज़ादी की लड़ाई से विमुख करने के लिए कोई लालच और तब उन्हें झुका न सका। एक क़दम भी पीछे न हटा सका, जबकि उनके आखिरी दिन भारी ग़रीबी में कटे। छोटा-सा कमरा, सुविधाओं का अभाव, इलाज के लिए डॉक्टर और दवा तक के लिए पैसों का अभाव था। मरते समय अपने सहयोगियों, साथियों से मौलवी बरकतुल्लाह ने कहा था—“तमाम ज़ेन्दगी ईमानदारी के साथ अपने वतन की आज़ादी के लिए मैं कोशिश करता रहा। मेरी यह ज़बरदस्त खुश-क्रिस्मती है कि मेरी यह नाचीज़ ज़िन्दगी मेरे प्यारे वतन के काम आई। ...मुझे इस बात की तसल्ली है कि मेरे बाद मेरे मुल्क की मदद करने के लिए ऐसे लाखों आदमी आगे बढ़ रहे होंगे, जो सच्चे हैं, बहादुर और जांबाज़ हैं। मैं इत्मीनान के साथ अपने मुल्क की क्रिस्मत उनके हाथों में सौंप कर जा रहा हूँ।”

इस तरह भारत की आज़ादी का दीवाना, मौलवी बरकतुल्लाह सॉन क्रांसिस्को में सिसकते हुए विदा हुए। उनकी मृत्यु के समाचार से सारे क्रान्तिकारी शोकातुर हो गए थे और ब्रिटिश जासूस भी, जो रात-दिन छाया की तरह उनके साथ रहते थे। हिन्दुस्तान एसोसिएशन सेन्ट्रल यूरोप की ओर से मौलवी बरकतुल्लाह के निधन पर एक शोक-सभा का आयोजन किया गया था, जिसमें तुर्की, ईरानी, अफ़ग़ानी और रूसी, जर्मनी आदि के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इन सब ने उन्हें भारत का महान क्रान्तिकारी बताया था और उनकी मौत को भारत की भारी क्षति भी।

ईरानी प्रतिनिधि ने कहा था, “बरकतुल्लाह की मौत हो गई है लेकिन उनकी आज़ादी की भावना अमर है। वह हमेशा अमर रहेगी। सभी क्रान्तिकारी अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। कोई भी क्रान्ति एक देश या क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती, उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय होता है और वह तमाम देशों को प्रभावित करती है, इसलिए किसी भी देश के क्रान्तिकारी शहीद को सारी दुनिया के आज़ादी पसन्द लोग अपना शहीद मानते हैं।”

यह शहीद आज़ादी के उस राजमार्ग का निर्माण करते हैं, जिस पर दे तक दुनिया की सभी क्रौमों को चलना है। अगर ये क्रान्तिकारी न होते तं दुनिया एक अन्धेरी कोठरी बन जाती। सोवियत प्रतिनिधि ने कहा था “भारत के स्वतंत्रता संग्राम के साथ सोवियत की पूरी सहानुभूति है आज़ादी की लड़ाई में काम आनेवाले हर शहीद की हम इज़्जत करते हैं सोवियत देश के प्रतिनिधि की हैसियत से मैं मौलवी बरकतुल्लाह की मृत् पर अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि पेश करता हूँ।”

इस तरह विदेशी प्रतिनिधियों ने मौलवी मुहम्मद बरकतुल्लाह के सम्मान में अपने उद्गार प्रकट किए थे। पं. जवाहरलाल नेहरू ने ब्रसेल्स में उनरं हुई मुलाक़ात का बड़ा रोचक तथा सम्मानजनक वर्णन किया है। अपर्न पुस्तक—मेरी कहानी—में।

पत्रकारिता के मैदान के एक महान योद्धा

■ सलमान फ़ैसल

मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ (17 जनवरी 1873 से 27 दिसम्बर 1956 ई.) का व्यक्तित्व इतिहास के ऐसे दौर से ताल्लुक रखता है जो विश्व स्तर पर युद्ध, अशान्ति, बदअम्नी, जुल्म व अत्याचार, पूंजीवाद और साम्यवाद का स्फ़राव, सरकारों का उलट-फेर, और आज़ादी के संघर्ष आदि के लिए जाना जाता है। विशेषकर भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था, जुल्म, अत्याचार और परेशानियों से दो-चार था। इसी आजमाइश की घड़ी में गुलामी की जंजीरों में कैद भारतीय नागरिक अपने तन-मन-धन और कलम की ताकत से स्वतंत्रता संग्राम में व्यस्त थे और गुलामी के अंधेरो को मिटाने के लिए अपने-अपने हिस्से के चिराग़ जलाने की कोशिश में लगे हुए थे।

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती 50 वर्ष आज़ादी की लड़ाई के नाम हैं। इस दौर में जहाँ राजनीतिज्ञ, और देश का नेतृत्व करने वाले लोग अपने-अपने तौर पर अंग्रेज़ों के जुल्म व अत्याचार के विरुद्ध उनसे टक्कर ले रहे थे, वहीं उस दौर के कवि एवं लेखक अपनी शायरी और लेखनियों में इस युद्ध में शामिल थे। जिस तरह शायरी और कहानियों के माध्यम से तन-भावनाओं को आज़ादी के लिए जागृत करने की कोशिशें आम थीं, वहीं पत्रकारिता भी स्वतंत्रता संग्राम में अपने कलमी हथियारों से लैस, मुस्तैद और ग़ैकस नज़र आती थी। उस दौर में पत्रकारिता के मैदान में तीन योद्धा सबसे आगे नज़र आते थे। मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, मुहम्मद अली जौहर और मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ।

मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ की पत्रकारिता 'ज़मीनदार' अख़बार में दिखाई देती है। लेकिन इससे पहले वे अपनी पत्रकारिता की धाक 'अफ़साना' और 'दकन रिव्यू' में बिठा चुके थे। जिस ज़माने में मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ ने पत्रकारिता के मैदान में कदम रखा उस समय कई नामवर अख़बार और पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के गहन अध्ययन से

ज़फ़र अली ख़ाँ ने पत्रकारिता के उसूल सीखे और फिर उन्हीं उसूलों को सामने रखकर पत्रकारिता के मैदान में आगे बढ़े। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं में शेख़ अब्दुल-क्रादिर की 'मख़ज़न', हलीम शरर की 'दिल गुदाज़', हसरत मोहानी की 'उर्दू-ए-मुअल्ला', मुहम्मद अली जौहर की 'हमदर्द', मुंशी दय नारायण निगम की 'ज़माना' और मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद की 'अल-हिलाल' और 'अल-बलाग़' आदि उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पत्रकारिता के बाग़ियाना तेवर और अभिव्यक्ति की आज़ादी का एक नया अध्याय शुरू हुआ और मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ, मुहम्मद अली जौहर और मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद जैसे बेबाक और निडर पत्रकारों ने भारतीय नागरिकों विशेषकर आज़ादी के मतवालों के दिलों को गरमाने और ज़ेहनों को झिझोड़ने का काम किया। मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ की पत्रकारिता 'अफ़साना' के प्रकाशन के साथ शुरू हुई। उस समय आप हैदराबाद में रहते थे। 'अफ़साना' एक मासिक पत्रिका थी, जो 1903 ई. में प्रकाशित होनी शुरू हुई। इस पत्रिक में नैतिक कहानियों के अलावा अंग्रेज़ी नाविलों के अनुवाद प्रकाशित होते थे। जार्ज डब्ल्यू एम. रिनॉल्ड का मशहूर नाविल Mystries of London 'फ़साना-ए-लन्दन' के नाम से इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

1904 में मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ ने 'दकन रिव्यू' का प्रकाशन शुरू किया और 'अफ़साना' भी इसमें विलीन हो गया। अब्दुस्सलाम खुर्शीद ने अपनी पुस्तक 'कारवाने सहाफ़त में लिखा है—

“1904 में उन्होंने (मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ ने) 'दकन रिव्यू' के नाम से एक इल्मी और साहित्यिक मासिक पत्रिका निकाली, जिसने बहुत जल्द भारतीय उपमहाद्वीप के नामवर अदीबों और शायरों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। नवाब नसीर हुसैन ख़ाँ, शिबली नोमानी, अकबर इलाहाबादी मौलवी अब्दुल-हक़, रज़ा अली वहशत, सैयद अली हैदर तबनबाई, श्रीकृष्ण प्रसाद शाद, मिर्ज़ा मुहम्मद हादी अज़ीज़, सैयद फ़ज़ले-हक़ आज़ाद अज़ीमाबादी काज़िम हुसैन शौकत, नवाब अज़ीज़, सैयद काज़िम हुसैन शेफ़ता, नवाब अज़ीज़ जंग बहादुर, मौलवी मनज़ूर हसन, और मौलवी माशूक हुसैन ख़ाँ

शामिल थे।”

(कारवाने सहाफ़त, कराची, 1889, पृष्ठ-105)

‘ज़मीनदार’ अख़बार का भी अपना एक इतिहास है। इस अख़बार ने आज़ादी की लड़ाई में बहुत ही अहम भूमिका निभाई है। मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ के पिता मौलवी सिराजुद्दीन साहब ने 1903 ई. में इसे लाहौर से जारी किया था। मौलवी सिराजुद्दीन साहब खुद एक ज़मीनदार थे। इसलिए सबसे पहले उन्होंने पंजाबी ज़मीनदारों में जागृति पैदा करने की कोशिश की। इस अख़बार के मुख पृष्ठ पर एक शेर होता था।

नाम को तो हूँ ज़मींदार और अगर सोचो ज़रा !

क्रौम का हाजतरवा हूँ, क्रौम का मुश्किल कुशा !!

1904 ई. में मौलवी सिराजुद्दीन साहब की मृत्यु के बाद मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ ने इसके संपादन की ज़िम्मेदारी सम्भाल ली थी। शीघ्र ही यह बहुत ही लोकप्रिय हो गया और 15 अक्टूबर 1917 ई. को साप्ताहिक से दैनिक हो गया। जल्द ही ‘ज़मीनदार’ का सर्कूलेशन बढ़कर बीस हजार तक पहुँच गया। इस अख़बार की लोकप्रियता का हाल यह था कि लोग दो पैसे में अख़बार ख़रीदते थे और एक आने में पढ़वाकर सुनते थे। इस लोकप्रियता को देखते हुए सरकार ने पाबन्दियाँ लगानी शुरू कर दीं। कभी प्रेस ज़ब्त हुआ तो कभी दस-दस हजार की ज़मानतें मांगी गईं, लेकिन मौलाना के हौसले और लोगों के सहयोग से ‘ज़मीनदार’ लगातार प्रकाशित होता रहा।

डॉ. मिस्कीन अली हिजाज़ी लिखते हैं—शहरों के बाज़ारों और गाँव के चौपालों में ‘ज़मीनदार’ की ही चर्चा होती। मौलाना मुहम्मद अली जौहर ने भी कामरेड (22 मार्च 1913 ई.) में लिखा था कि यह पर्चा इसलिए इतना लोकप्रिय हुआ कि उसका सम्पादन मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ ने किया जो बहुत ही क़ाबिल है। अलीगढ़ का ग्रेज्यूएट है। नज़्म व नस्क़ का तज़रिबा रखता है। आधुनिक सभ्यता, संस्कृति एवं राजनीति से अवगत है। अंग्रेज़ी की अच्छी सलाहियत है। ‘ज़मीनदार’ के मुक़ाबले में दूसरे अख़बार फीके और बेमज़ा होते हैं। (मुस्लिम सहाफ़त की मुक़्तसर तारीख़, 1989, पृष्ठ-36)

मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ इंग्लैंड में प्रेस एक्ट के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द

करने के बाद वतन लौटे तो उन्हें करम आबाद में नज़रबन्द कर दिया गया ।

इनायतुल्लाह नसीम ने आपके बारे में लिखा है—निस्सन्देह अबुल-कलाम ने देश के बुद्धिजीवियों और पढ़े-लिखे लोगों को सम्बोधित किया, मगर क़ौम की बेदारी के लिए जिस ज़ब्बे की ज़रूरत है वह केवल 'ज़मीनदार' की तहरीरों ने पैदा किया । उन्होंने सवालिया अन्दाज़ में पूछा है कि ज़फ़र अली ख़ाँ का अन्दाज़ यदि जोशीला और ख़तीबाना न होता तो क्या फ़िरंगी हुकूमत के ख़िलाफ़ अवाम में बेदारी मुम्किन थी ।

मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ के एक सम्पादकीय का कुछ हिस्सा यहाँ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है—

“हयाते मिल्ली का अस्ती नुमाइन्दा वह मैला-सा तहमद बांधनेवाला दहक़ान है जिसे न कड़कड़ाते जाड़े में चैन है और न झुलसाने वाली लूओ (गर्म हवाओं) में आराम । मेंह बरसे, ओले पड़ें, आँधी आए, झक्कड़ चलें, उसे अपने काम से काम है । वह अपना खून-पसीना एक करता है और सत्तनत का खज़ाना भरता है । वह अगर न हो तो न यह लीगें हों और न यह कांग्रेस, न यह महल हों, न यह मीनार । दौलत जो दीन के बाद खुद की सबसे बड़ी देन है उसी के एक माइदा-ए-फ़ैज़ का एक रेज़ा है । जिसे चुनने के लिए बादशाह व अमीर, आलिम व फ़ाज़िल, मुफ़्ती व फ़कीर, दौड़े पड़ते हैं ।

वक़्त आ गया है कि तमाम शुकूक व शुब्हात जो हाकिम व महकूम के एक दूसरे से जुदा किए हुए हैं, उठ जाएँ । वक़्त आ गया है कि एक नय अह्द पैमान, राई व रआया के गहरे ताल्लुकात की तजदीद करे जिससे इस मुल्क की क़ौमियत का बिखरा हुआ शीराज़ा बन्ध जाए ।

यह वक़्त हमें अपनी आँखों से नज़र आ रहा है । यह अज़ीमुश्शाह इन्क़िलाबात जिनसे हिन्दुस्तान में एक नई ज़िन्दगी पैदा होने वाली है उनका आना ऐसा ही है, जैसा अपनी साअते मुकर्ररा (निश्चित समय) पसूरज का निकलना ।”

(कारवाने-सहाफ़त, पृष्ठ-120,121)

1857 में विदिशा की भूमिका

■ विपिन कुमार त्रिपाठी

1857 ई. के महान विद्रोह के समय वर्तमान विदिशा जिला कई हिस्सों में बँटा था। विदिशा सिन्धिया के अधीन था, सिरोंज टोंक के नवाब जीर-उद-दौला के अधीन कुरवाई नवाब मुजफ्फर ख़ाँ के अधीन तथा असौदा व पठारी नवाब हैदर मुहम्मद ख़ाँ के अधीन थे।

विद्रोह का सूत्रपात अम्बापानी के जागीरदार फ़ाज़िल मुहम्मद ख़ाँ और आदिल मुहम्मद ख़ाँ ने किया। अगस्त 1857 ई. में सीहोर से विद्रोह की शुरुआत कर 28 सितम्बर को 300 साथियों के साथ वे चन्द्रपुर गाँव पहुँचे। वहाँ पठारी के नवाब के आदमियों से मुठभेड़ के बाद वे पठारी पहुँचे। वहाँ गज़िल ख़ाँ ने एक थाना क़ायम किया और नवाब को गिरफ़्तार कर लिया। कुछ दिन बाद नवाब ने फिर पठारी पर अधिकार कर लिया, अलबत्ता नवम्बर 1857 ई. में क्षेत्र में विद्रोहियों का वर्चस्व रहा। दिसम्बर 1857 ई. में ह्यूरोज़ विद्रोह को दबाने की कमान सम्भाली। 15 जनवरी 1858 ई. को सीहोर में 140 विद्रोहियों को मृत्युदण्ड दिया। 28 जनवरी को राहतगढ़ की घेराबन्दी कर फ़ाज़िल मुहम्मद ख़ाँ को गिरफ़्तार कर क़िले के फाटक पर फाँसी दे दी गई।

आदिल मुहम्मद ख़ाँ तात्या टोपे से मिले और एक अप्रैल 1858 ई. को अपनी लक्ष्मीबाई की मदद के लिए झांसी पहुँचे। अंग्रेज़ सेना पर भीषण तोलाबारी कर उन्होंने ह्यूरोज़ को संकट में डाल दिया। किन्तु बाद में तात्या टोपे को पीछे लौटने का आदेश देना पड़ा। विद्रोही अलग-अलग इलाक़ों में बँखर गए। आगरा-बरखड़ा के ठाकुर छत्रपाल ने विदिशा से कम्पनी सरकार को उखाड़ फेंकने को प्रेरक पत्र लिखे। सितम्बर 1858 ई. में आदिल मुहम्मद ख़ाँ अपने 500 अनुयायियों सहित टेहरी के जंगलों में पहुँचे और पहाड़ी पर स्थित जुस्सुल (सिरोंज) के क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। उनके प्रमुख सहयोगी सरफ़राज़ मुहम्मद ख़ाँ व राव कुमार सिंह पिंडारी। नवम्बर 1858 ई. में

आदिल के सहयोगियों की संख्या 1500 हो गई। 29 अप्रैल 1859 ई. को भोपाल के नवाब की फ़ौजी टोली से इनकी मुठभेड़ हो गई जिसमें वफ़ादार विद्रोही मारे गए तथा बहुत-से घायल हुए। 15 मई 1859 ई. को आदिल अमानत व सरफ़राज़ ने पिपरिया के क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया, जो विदिश के अन्तर्गत था। 18 मई 1859 ई. को ईसागढ़ के सूबा के साथ अंग्रेज़ सेना की एक टुकड़ी ने आदिल ख़ाँ पर हमला कर दिया। कई विद्रोही मारे गए और कई पकड़ लिए गए। क़िला ख़ाली करा लिया गया। आदिल ख़ाँ वहाँ से निकल गए और उन्होंने विद्रोहियों को संगठित किया।

23 जून को लेफ़्टिनेंट रूम ने गुनापुरा के ऊपर की ओर स्थित पहाड़ियों पर आदिल मुहम्मद ख़ाँ पर आक्रमण किया और 100 से अधिक विद्रोहियों को मार डाला। वहाँ गडदों में एक साल की रसद का अनाज मिला जिसे अंग्रेज़ों ने जला दिया। आगे के दिनों में कई गाँव भी जलाए। कैप्टन रूम ने ज़मादार रामलाल की कमान में भारतीय सेना की 10वीं रेजीमेंट की एक टुकड़ी को विद्रोहियों के छद्म वेष में भेजा। इस दल ने आदिल ख़ाँ के अनुयायियों में आतंक पैदा कर दिया। सितम्बर 1859 ई. तक उन्होंने रूम के समक्ष आत्म समर्पण कर दिया। आदिल मुहम्मद ख़ाँ ललितपुर की ओर अमानत ख़ाँ दरिया की ओर चले गए। 1860 ई. में आदिल ख़ाँ राव साहब से मिले। इसके आगे की जानकारी गज़ेटियर में नहीं है। पर आज़ाद के इतिहास में आदिल मुहम्मद ख़ाँ का नाम अमर है।

(सा. : गज़ेटियर विदिशा)

पीर अली की ललकार

■ डॉ. एस. एल. नागौरी

1857 ई. की क्रान्ति ने बिहार को भी प्रभावित किया। यद्यपि यह सत्य कि यहाँ आगरा, मेरठ तथा दिल्ली की भाँति क्रान्ति का जोर नहीं था, थापि बिहार के कई क्षेत्रों में क्रान्ति ने भीषण रूप धारण कर लिया था। कड़ों ब्रितानियों को यहाँ मौत के घाट उतार दिया गया।

गया, छपरा, पटना, मोतीहारी तथा मुज़फ़्फ़रपुर आदि नगरों में क्रान्ति ने भीषण रूप धारण कर लिया। ब्रितानियों ने दानापुर में एक छावनी की स्थापना की, ताकि बिहार पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। स्वदेशियों को सातवीं, आठवीं तथा चालीसवीं पैदल सेनाएँ भी, जिन पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए एक विदेशी कम्पनी और तोप सेना रखी गई थी। उनका प्रधान सेनापति मेजर जनरल लॉयड था। टेलर पटना का कमिश्नर था, जो बहुत दूरदर्शी था। उसमें प्रशासनिक क्षमता अत्यधिक थी। उसका इरादा मानना था कि पटना के मुसलमान भी इस क्रान्ति में हिन्दुओं के साथ जा लेंगे। पटना में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक थी। अतः टेलर ने स्लेम नेताओं पर कड़ी नज़र रखना प्रारम्भ कर दिया। पटना के नागरिकों को कुछ वर्ष पहले से ही क्रान्ति की तैयारी शुरू कर दी थी, इसके लिए क्लब स्थापित किए जा चुके थे, जिसमें शहर के व्यवसाई एवं धनी वर्ग लोग सम्मिलित थे। पटना के कुछ मौलवियों का लखनऊ के गुप्त क्लबों से पत्र व्यवहार चल रहा था। उनका दानापुर के सैनिकों से भी सम्पर्क हो चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिसवाले भी क्रान्तिकारियों का सहयोग कर रहे थे। दानापुर के सैनिक भी वृक्षों के नीचे गुप्त बैठकें किया करते और क्रान्ति की योजना बनाते थे।

दानापुर के सैनिक मेरठ के सैनिकों के असन्तोष के बारे में जानते थे, अतः वे अवसर की प्रतीक्षा में थे। टेलर को पता चला कि दानापुर के सैनिकों में असन्तोष व्याप्त है तो उसने विस्फोट होने से पूर्व ही उसे

कुचलना उचित समझा । इसके लिए उसने तुरन्त प्रभावशाली क्रदम उठाए जिसके कारण वहाँ क्रान्ति भीषण रूप धारण नहीं कर सकी । हाँ, ती जुलाई को एक छोटी-सी क्रान्ति अवश्य हुई, जिसे ब्रितानियों ने सिर सैनिकों की सहायता से कुचल दिया ।

तिरहुत ज़िले के पुलिस जमादार वारिस अली पर ब्रितानियों को सन्देह हुआ और उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया । उसके घर छापा डाला गया जिसमें आपत्तिजनक कागज़ात प्राप्त हुए । इस अभियोग में उन्हें फाँसी प लटका दिया गया । तत्पश्चात् अनेक क्रान्तिकारियों को बन्दी बनाकर जेल डाल दिया गया । नागरिकों से हथियार लेकर चलने पर प्रतिबन्ध लगा दिए गया । रात को नौ बजे घर से निकलने पर रोक लगा दी गई और कफ़र्यू ल दिया गया । परिणामस्वरूप क्रान्तिकारी रात्रि को मीटिंग नहीं बुला सकते थे बिहार के ही एक प्रमुख मुस्लिम क्रान्तिकारी पीर अली के बारे में बहुत क लोग जानते हैं । वे सिर्फ़ मुसलमानों के ही नेता नहीं थे, अपितु उन्हें समस्त क्रान्तिकारियों का विश्वास एवं समर्थन प्राप्त था ।

पीर अली लखनऊ के रहनेवाले थे । उनके बारे में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है, पर इतना अवश्य पता चला है कि वे एक साधारण व्यक्ति थे जिनमें देशप्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी । व्यक्ति की महानत उसके वंश ऐश्वर्य आदि से नहीं, अपितु उनकी निष्ठा से आँकी जाती है एक साधारण व्यक्ति, जिसमें देशप्रेम की भावना हो, देश के लिए मर-मिट की लालसा हो वह सराहनीय है । पीर अली लखनऊ से पटना आकर ब गए । आजीविका के लिए उन्होंने पुस्तक बिक्री का व्यवसाय प्रारम्भ किया वे चाहते तो अन्य काम भी कर सकते थे, पर उनका मुख्य उद्देश्य लोगों क्रान्ति सम्बन्धित पुस्तकों का प्रचार करना था । वे पहले पुस्तक पढ़ते अ इसके बाद दूसरों को पढ़ने के लिए देते थे । वह पुरुष धन्य है, जो अप ज्ञान को अपने तक ही सीमित नहीं रखकर समस्त जनता को लाभान्ति करता है ।

पीर अली भारत को दासता की बेड़ियों से मुक्त करवाना चाहते थे उनका मानना था कि गुलामी से मौत ज़्यादा बेहतर होती है । उनका दिल

था अन्य स्थानों के क्रान्तिकारियों के साथ बहुत अच्छा सम्पर्क था। वे नसे समय-समय पर निर्देश प्राप्त करते थे। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क आता, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। यद्यपि वे साधारण स्तर के विक्रेता थे, तथापि उन्हें पटना के विशिष्ट नागरिकों का समर्थन प्राप्त था। क्रान्तिकारी परिषद पर उनका अत्यधिक प्रभाव था। उन्होंने धनी वर्ग सहयोग से अनेक व्यक्तियों को संगठित किया और उनमें क्रान्ति की भावना का प्रसार किया। लोगों ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि वे ब्रिटिश शासन को जड़मूल से नष्ट कर देंगे। जब तक हम में रक्त की धारा प्रवाहित होती रहेगी, हम फ्रिंरिंगियों का विरोध करेंगे, लोगों ने क्रसमें खाई।

टेलर ने पटना में दमन चक्र चलाना शुरू किया तो पीर अली ने विद्रोह शुरू दिया। उनके स्वभाव में अद्भुत तीव्रता तथा उतावलापन था। वे शवासियों का अपमान सहन नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने जनता को सरकार के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दी और स्वयं संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने स्वयं कहा था, “मैं समय से पहले ही विद्रोह कर उठा था।” सरकार ने पीर अली को गिरफ्तार कर लिया और उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें मृत्युदण्ड की सजा दी गई। पीर अली ने निडर होकर हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगा लिया। विनायक दामोदर सावरकर ने पीर अली के मृत्युदण्ड के समय का बहुत अच्छा वर्णन किया है।

हाथों में हथकड़ियाँ, बाँहों में रक्त की धारा, सामने फाँसी का फन्दा, पीर अली के मुख पर वीरोचित मुस्कान मानो वे सामने कहीं मृत्यु को चुनौती दे रहे हों। महान शहीद ने मरते-मरते कहा था, “तुम मुझे फाँसी पर लटका सकते हो, किन्तु तुम हमारे आदर्श की हत्या नहीं कर सकते। मैं मर जाऊँगा, किन्तु मेरे रक्त से सहस्रों योद्धा जन्म लेंगे और तुम्हारे साम्राज्य को नष्ट कर देंगे।” कमिश्नर टेलर ने लिखा है कि पीर अली ने मृत्युदण्ड के समय बड़ी शैरता तथा निडरता का परिचय दिया। उन्हें 1857 ई. में पटना में फाँसी दी गई थी। 30 सेनानियों पर मुकदमा चलाया गया, जिनमें से पीर अली अमेत 14 को 7 जुलाई 1857 ई. को फाँसी की सजा सुनाई गई थी।

पीर अली का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उनकी मृत्यु के बाद 25 जुलाई 1857 ई. को दानापुर की देशी पलटनों ने अपने-आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। दानापुर के सैनिकों ने जगदीशपुर के बाबू कुँवरसिंह को अपना नेता स्वीकार कर लिया। यद्यपि कुँवरसिंह वृद्ध हो गए थे, तथापि उनमें बहुत जोश था। उनमें सैनिक शक्ति थी। वृद्ध कुँवरसिंह ने क्रान्तिकारियों को नेतृत्व स्वीकार कर लिया और यह प्रमाणित कर दिया कि बिहार की भूमि में अत्यन्त शक्ति है। यहाँ का एक वृद्ध भी ब्रितानियों को ललकार सकता है और उनके दांत खट्टे कर सकता है।

इस तरह भी की गई मदद

■ भरत राम भट्ट

बात जून 1775 ई. की है। महाराज नन्द कुमार पर अंग्रेजों ने जालसाजी के बीस आरोप लगाए थे। उनके विरुद्ध करीब तीन दर्जन गवाह जुटाए गए थे। उन्हीं में से एक आजिम अली भी था, जो कलकत्ता की नमक की कोठी पर एक अंग्रेज़ एजेन्ट का नौकर था। यानी आजिम अली उस अंग्रेज़ का खानसामा था, जब किसी पर नमक की चोरी का आरोप लगाया जाता तो आजिम अली सरकारी यानी अंग्रेजों की तरफ़ से गवाही देता था।

महाराज नन्द कुमार, जो राजा थे और वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण थे, उन पर मुक़दमा के पक्ष में गवाहियाँ 3 जून से 12 जून, 1775 ई. तक पूरी हुईं। सारे गवाह चाहे वे हिन्दू थे या मुसलमान, सब ने करीब-करीब उनके विरुद्ध गवाही दी।

जब आजिम अली गवाही के कटघरे में प्रविष्ट हुआ तो महाराज नन्दकुमार और उनके संगी-साथी समझ गए कि वह चश्मदीद अंग्रेज़-गवाह बनकर आया है, इसलिए हमारे पक्ष में गवाही देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जब आजिम अली कटघरे में खड़ा था तो चैतन्य बाबू ने उसे संकेत से हाथ की एक, दो व तीन उँगलियाँ दिखाकर तीन सौ रुपए तक देने का वादा किया, लेकिन शपथ लेकर वह कहने लगा—

“मैं महाराज नन्द कुमार का मकान जानता हूँ। उनके गुमाश्ता चैतन्य नाथ ने मेरी दुकान से एक जूता लिया था। मैं सन् 1769 ई. की जुलाई में चैतन्य बाबू से जूतों के दाम का तक्राज़ा करने महाराज नन्द कुमार के मकान पर गया। उससे दस दिन पहले बुलाकी दास की मृत्यु हो गई थी। वहाँ चैतन्य बाबू काम में व्यस्त थे। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया—महाराज एक जाली दस्तावेज़ बना रहे हैं, उसी काम में मैं भी फँसा हूँ। फिर मैंने महाराज को नाक पर चश्मा चढ़ाए एक बक्से में से 25-30 मोहर निकाल कर ज़ोर-ज़ोर से पढ़ता हुआ सुना। उन्हीं नामों में एक नाम कमालुद्दीन का भी

था। वह मोहर (कागज़) महाराज ने चैतन्य बाबू को भी दिखाई थी।”

आज़िम अली की बयानबाज़ी को सुनकर सब सदस्य (जज) खिलखिल उठे और कहने लगे—गो ऑन। फिर आज़िम अली ने कहा—हुज़ूर इसके बाद तमस्सुक की शक्ल के एक कागज़ पर वह मोहर छाप दी गई।

तब एक जज बोला—कहे जाओ, कहे जाओ।

आज़िम अली बोला—इसके बाद महाराज ने चैतन्य बाबू से कहा—जहाँ मोहर लगाई है, उसके पास ही अब्दुल-कमालुद्दीन का नाम भी लिख दो।

दूसरा जज—कहो, कहो !

तब चैतन्य बाबू ने कमालुद्दीन का नाम लिख दिया। आज़िम अली बोला।

क्या तुम लिख-पढ़ सकते हो? तीसरे जज ने प्रश्न किया था।

हुज़ूर ! अब तो आँखों से कम दीखता है, पर पहले फ़ारसी पढ़ लेता था आज़िम अली का जवाब था।

सर इम्पे बोले—आगे बोलो। इम्पे जूरी के जज थे। जूरी में बारह जज थे।

हुज़ूर! फिर उसी कागज़ पर महाराज ने शिलावत सिंह, माधवराव के नाम भी गवाहों में लिख दिए।

आज़िम अली के बयान से घबराकर चैतन्य बाबू ने आज़िम अली को एक हज़ार रुपए देने का संकेत दिया। तब वह इशारे से ही बोला—घबराओ मत। सब पर पानी फेरे देता हूँ। दूसरी तरफ़ जज और फ़रियाद करनेवाले के वकील बेज़ार होकर कहने लगे—गो ऑन, गो ऑन! (आगे कहो, आगे कहो)

सब काम पूरा होने पर महाराज उस कागज़ को पढ़ने लगे। आज़िम अली ने आगे कहा।

सारे जजों ने पूछा—फिर क्या हुआ।

हुज़ूर! महाराज ने उसे पढ़कर फिर अपने बक्से में रख दिया। तभी हमने

मुना कि बुलाकी दास ने महाराज को तमस्सुक लिख दिया। फिर! फिर! एक गथ सारे जज बोले।

हुज़ूर! इसके साथ ही घर के अन्दर मुर्गी ने बाँग लगा दी और मेरी नींद टूट गई। तभी मेरी छोटी बीबी ने कहा—मियाँ आज क्या बिस्तर से नहीं ठोगे? देखो! कितनी धूप चढ़ आई है? तब इलियट, जो द्विभाषिए का काम कर रहा था, तपाक से आह! करके रह गया।

उधर जज इम्पे द्विभाषिए से आखिरी बात समझाने को कह रहा था और वाह आजिम अली से गो ऑन (आगे कहो) भी।

हुज़ूर! इसके बाद मैंने अपनी छोटी बीबी से कहा—मैं ख़ाब में महाराज नन्दकुमार के मकान पर गया हूँ और वे बुलाकी दास के नाम से एक जाली स्तावेज़ बना रहे हैं।

जब यह बात द्विभाषिए इलियट ने जजों को समझाई तो सबके सब दँग ह गए और निराश होकर आजिम अली का मुँह ताकने लगे।

उधर आजिम अली 'गो ऑन' का इन्तिज़ार किए बिना महाराज नन्दकुमार के अपराधों की सज़ा सुनाने को वहाँ बैठे जजों के सामने अपने श्राव का वर्णन करता चला गया।

यद्यपि न्याय का गला घोट कर महाराज नन्दकुमार को फाँसी दी गई, रन्तु आजिम अली ने वह करिश्मा कर दिखाया था, जो उससे पहले किसी सोचा भी न होगा।

आजिम अली ने महाराज नन्दकुमार के विरुद्ध दी अपनी गवाही पर कुछ क्षणों में ही जिस चतुराई से पानी फेर दिया था, उसका मुख्य कारण जेई उसका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था, बल्कि स्वतंत्र भारत की कामना थी।

महाराज नन्दकुमार को 14 अगस्त, 1775 ई. को फाँसी दी गई थी। ग्लैंड लौटने पर इम्पे पर भी मुकदमा चलाया गया था और उसके फैसले को ब्रिटिश-न्याय को कलंकित करनेवाला बताया गया था।

स्वतंत्रता आन्दोलन और खान अब्दुल-ग़फ़ार ख़ाँ

■ संपादन प्रभाग

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से मुसलमानों का उद्देश्य यह था कि भारत से अंग्रेजों को निकाल बाहर किया जाए और देश के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त की जाए। यह बात शैखुल-हिन्द मौलाना महमूद हसन के आन्दोलन में हमें स्पष्ट नज़र आती है और अंग्रेजों को निकालने के लिए तुर्कों से उनका मुलाकातें इसको नुमायाँ करती हैं, जैसा कि रूल्ड कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है कि “इस आन्दोलन का लक्ष्य भारत से ब्रिटिश साम्राज्य को ख़त्म करना था।” (गाँधी जी के क़दमों में, पृष्ठ-16)

इस बात की चर्चा ऊपर की जा चुकी है कि मुसलमान भारत को स्वतंत्र लोकतंत्र बनाने की घोषणा पर सोच-विचार कर रहे थे और यह कि वे देश के दूसरे तमाम निवासियों की तुलना में ज़्यादा निडर और शूरवीर थे। उन मुसलमानों की माँग पूर्ण स्वतंत्रता की थी, इसके दो कारण थे—

1. अपने प्रमुख दुश्मन से देश को मुक्ति दिलाएँ, जिसने उनके देश पर आधिपत्य जमा रखा था।

2. उन इस्लामी देशों को स्वतंत्र कराएँ, जिन पर अंग्रेजों ने भारत पर सत्ता और प्रभुत्व को चिर-स्थायी करने के उद्देश्य से क़ब्ज़ा करके वहाँ अपना नई आबादियाँ बसा रखी थीं। क्योंकि अंग्रेज़ समझ रहे थे कि अगर भारत से उनकी सत्ता-सामर्थ्य लिपट जाए तो उन इस्लामी देशों पर अपना क़ब्ज़ा और आधिपत्य बरकरार रखना उनके लिए सम्भव न रहेगा। यह सूरतेहाल और ये थे वे कारण, जिनके तहत भारत के मुसलमान अपने देश से अंग्रेजों को निकाल देने के लिए ज़ंग करने और इस राह में बड़ी-से-बड़ी कुरबानी देने के लिए तैयार हो गए थे, जबकि हिन्दुओं ने ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में स्वराज्य (Home Rule) से ज़्यादा की माँग न की। पण्डित

जवाहर लाल नेहरू अपनी किताब में लिखते हैं—

“लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आए, उन्होंने और श्रीमती एनी बेसेंट ने भारत के स्वराज्य (Home Rule) की माँग के लिए संस्थाओं को स्थापित करना शुरू किया। लोकमान्य तिलक और अंग्रेजों की दुश्मनी में हद से ज्यादा क्रान्तिकारी घटनाएँ हुई थीं।” इसके बाद वह आगे लिखते हैं, “जब दूसरी बार एनी बेसेंट गिरफ्तार की गईं तो उसका परिणाम यह हुआ कि मेरे पेटा और दूसरे बहुत-से मध्यमार्गी लोग स्वराज्य की माँग करनेवालों की ओर आकृष्ट हो गए। अर्थात् वे लोग भी क्रान्तिकारी दल में शामिल हो गए। यह बात प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान हुई, जब गाँधी जी ने अपना आन्दोलन शुरू किया था, तो इससे उनका उद्देश्य इसके अतिरिक्त और कुछ न था कि कुछ जुल्म-अत्याचार खत्म किए जाएँ और संशोधित कानूनों को लागू किया जाए, जिनका अंग्रेजों ने वादा किया था और फिर अपने वादे से मुकर गए थे।”

(किताब नेहरू, पृष्ठ-24)

जब गाँधी जी ने 1920-21 ई. में लोगों को असहयोग आन्दोलन की ओर बुलाया तो उनका उद्देश्य स्वराज्य या पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं था, बल्कि उनका आशय यह था कि अंग्रेजों की निगाहों को भारतवासियों के साथ दुर्व्यवहार, आन्तरिक कानून में संशोधन के वादों से मुकर जाने और उन बातों को पूरा करने की ओर मोड़ा जाए, जिसके लिए उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वादे किए थे और इसका यह भी मतलब है कि स्वतंत्रता के सिलसिले में कांग्रेस के सामने कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं था, जिसके आस-पास सारे सदस्य जमा हो जाते, बल्कि वह केवल उन लोगों को जमा करती थी जो क्रान्तिकारी कहलाते थे और स्वराज्य की माँग करते थे। रहे मध्यमार्गी लोग तो यह लोग स्वराज्य की माँग भी नहीं करते थे, बल्कि पण्डित नेहरू जी के कथनानुसार वे अंग्रेजों की सवारी थे।

ये क्रान्तिकारी अधिकतर नौजवान थे, जिनका नेतृत्व पण्डित जवाहर लाल नेहरू कर रहे थे। सन् 1928 ई. में मोती लाल नेहरू कमीशन ने एक रिपोर्ट पेश की, जिसमें उन्होंने सारी भारतीय पार्टियों के एक सम्मेलन में स्पष्ट नियमों व सिद्धान्तों के साथ भारत की स्वतंत्रता की माँग को पेश

किया। कांग्रेस की कमेटी में पण्डित नेहरू ने एक क्रान्तिकारी भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा, “समय आ गया है कि कांग्रेस इस क्रान्तिकारि दृष्टिकोण के जो हमारे राजनैतिक और सामूहिक हालात में पूर्ण परिवर्तन कर् माँग करता है और आन्तरिक संशोधन पर पर्याप्त लोगों के मध्य किसी एव का चुनाव कर ले।”

दिसम्बर 1929 ई. में कांग्रेस ने अपना सम्मेलन लाहौर में आयोजित किया। इस अवधि में अंग्रेजी सरकार ने पूर्व माँग के सिलसिले में अपने दृष्टिकोण का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया था, अतः कांग्रेस ने कुछ क्षेत्रों वे विरोध के बावजूद बुनियादी प्रस्ताव को मान लिया। यह काम दिसम्बर 1929 ई. की अन्तिम रात में पूरा हुआ और 24 जनवरी 1930 ई. का दिन इस प्रस्ताव को प्रकाशित करने और पूर्ण स्वतंत्रता की माँग के लिए निश्चित हुआ।

मुसलमान आमतौर पर दूसरों की तुलना में असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा के मामले में आगे थे और इस राह में दूसरों ने जो कुछ परिश्रम व प्रयास किया और अल्पसंख्यक होने के बावजूद इस महा-आन्दोलन को अपने विशिष्ट रंग में रंग दिया। इस आन्दोलन के नाम और शीर्षक के रूप में जो शब्द (असहयोग और साम्राज्यवाद विहीन असहयोग आन्दोलन) मुसलमानों ने इस्तेमाल किया, वह वास्तव में अरबी भाषा का शब्द था, लेकिन उन्होंने इसे उर्दू भाषा में दाखिल कर लिया था और यहाँ नाम मशहूर भी हुआ और इतना मशहूर हुआ कि खुद गाँधी जी भी जब लोगों के सामने भाषण देते तो उन्हें अपनी भाषा में इसका कोई वैकल्पिक शब्द न मिल सका।

शायद यह बात भी थी कि गाँधी जी पूर्ण स्वतंत्रता और ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद के मामले में, जिसके साथ वे एक लम्बी अवधि तक निष्कपट प्रेम का बरताव करते रहे थे, वास्तव में कुछ ज्यादा उत्साहित थे। यह केवल संयोग नहीं है कि जिस समय कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव को अपनाने का एलान किया था और जिसका एलान जनवरी 1930 ई. में किया भी और जिस आन्दोलन का नेतृत्व गाँधी जी के हवाले उन

एकान्तवास से निकलने के बाद किया गया था। ठीक उसी समय गाँधी जी ने एक पत्र वायसराय को लिखा, जिसमें उन्होंने लिखा कि वह इस आन्दोलन को स्थगित करने के लिए तैयार हैं, अगर भारतवासियों की नेम्नलिखित माँगों को स्वीकार कर लिया जाए—

1. देश में पूर्णतया मद्यपान निषेध। 2. सरकारी लाभ प्राप्ति की समाप्ति। 3. लगान में पचास प्रतिशत की कमी। 4. सैनिक खर्च में पचास प्रतिशत की कमी। 5. भारतीय निर्मित और यहाँ के बने हुए कपड़ों को तरक्की देने के लिए विदेशी कपड़ों और निर्मित सामानों के आयात पर कर में वृद्धि। 6. सारे राजनैतिक कैदियों की रिहाई। 7. खुफिया पुलिस विभाग का खात्मा या फिर उसे जन-प्रतिनिधियों के अधीन बनाया जाना।

8. जन-प्रतिनिधियों की निगरानी में आत्मरक्षा के लिए आग्नेय अस्त्रों के आम इस्तेमाल की इजाजत।

9. नमक पर से कर की समाप्ति।

यह माँगें निस्सन्देह भारत की शदीद जरूरतों से सम्बन्धित थीं और पूर्ण स्वतंत्रता की तुलना में गाँधी जी इन पर सन्तोष करने के लिए तैयार थे (जबकि उनको इसके लिए तैयार नहीं होना चाहिए था, क्योंकि) अगर ब्रिटिश सरकार यह माँग मान लेती, तो फिर वायसराय पूरी तरह से सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) के बारे में कुछ भी न सुनता।

लेकिन सरकार ने गाँधी जी की माँगों को अस्वीकार कर दिया और कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने 15 फ़रवरी 1930 ई. में आयोजित अपने सम्मेलन में सविनय अवज्ञा की शुरुआत के लिए समय निर्धारित कर दिया।

(किताब : गाँधी, पृष्ठ-292,93)

इस अवसर पर इस बात की चर्चा भी अनुचित न होगी कि जब गाँधी जी ने वायसराय के उनकी शर्तें स्वीकार न करने के बाद सन् 1930 ई. में दूसरी बार सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया तो उसकी शुरुआत उन्होंने अपने साथियों के साथ नमक वाले क़ानून के विरोध में की और जब उसके प्रतिकार में वह गिरफ़्तार किए गए तो उन्होंने अपना कार्यवाहक एक मुस्लिम

नेता 'अब्बास तैयब' को बनाया और यह कहा कि जब वह भी गिरफ्तार हो जाएँ तो इस आन्दोलन का नेतृत्व श्रीमती सरोजनी नायडू करेंगी और अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे इन दोनों के साथ सहयोग व प्रेम का व्यवहार करें।
(किताब : गाँधी, लेखक—फ़तही रिज़वान)

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में हिन्दू लीडरों के साथ-साथ मुस्लिम लीडरों का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। यह उन दिनों की बात है, जिन दिनों सरहदी क्षेत्र में जो इस समय पाकिस्तान का एक क्षेत्र है, एक ऐसी हुकूमत स्थापित थी, जो ताक़त व भय के द्वारा क्रौम पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थी। ठीक उन्हीं दिनों सरहदी क्षेत्र में एक मुस्लिम नेता था, जो अंग्रेज़ों की ज़ालिम हुकूमत के विरुद्ध इस क्षेत्र में अपना सीना ताने खड़ा था और जिसके नेतृत्व में उस समय पूरा सरहदी क्षेत्र चल रहा था। उस नेता को हम ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के नाम से जानते हैं।

अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ का जन्म सन् 1890 ई. में पेशावर, पाकिस्तान में हुआ था। आपके पिता बैरम ख़ाँ एक सच्चे ईश्वर भक्त व शान्त स्वभाव के व्यक्ति थे। आपके दादा सैफुल्लाह ख़ाँ और परदादा उबैदुल्लाह ख़ाँ सत्यवादी होने के साथ-साथ लड़ाकू स्वभाव के भी थे। आपके परदादा ने पठानी क़बाइलियों और भारतीय स्वतंत्रता के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी थीं। स्वतंत्रता संग्राम के लिए उन्हें प्राणदण्ड दिया गया था। वे जैसे बलशाली थे वैसे ही समझदार और चतुर भी थे। इसी प्रकार ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के दादा सैफुल्लाह ख़ाँ ने सारी ज़िन्दगी अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ाइयाँ लड़ी। जहाँ भी पठानों के ऊपर अंग्रेज़ आक्रमण करते, उनकी सहायता के लिए सैफुल्लाह ख़ाँ वहाँ पहुँच जाते थे।

स्वतंत्रता संग्राम का यही पाठ अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ ने अपने दादा से सीखा। आपके पिता बैरम ख़ाँ ने आपकी शिक्षा-दीक्षा के लिए मिशनरी स्कूल में आपका दाखिला कराया, यद्यपि पठानों ने उनका बड़ा विरोध किया। मिशनरी स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के बाद अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ अलीगढ़ गए, किन्तु वहाँ रहने की परेशानी के कारण उन्होंने गाँव में ही रहना पसन्द किया। गर्मी की छुट्टियों में वे समाज सेवा का कार्य करते थे। पूरी शिक्षा

प्त करने के बाद वे देश-सेवा में लग गए।

पेशावर में जब 1919 ई. में अंग्रेज़ सरकार ने मार्शल लॉ (फ़ौजी क़ानून) लागू किया, तो उस समय अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ ने शान्ति का प्रस्ताव पेश किया, मगर फिर भी उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। अंग्रेज़ी सरकार उन पर द्रोह का आरोप लगाकर जेल में बन्द करना चाहती थी। अतः सरकार की ओर से इस प्रकार के गवाह तैयार करने के प्रयत्न किए गए, जो यह कहें कि अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के भड़काने पर जनता ने तार तोड़े, किन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति तैयार न हुआ, जो अंग्रेज़ सरकार की ओर से गवाही दे। फिर भी स झूठे आरोप में उन्हें छः महीने की सज़ा दी गई।

ख़ान अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ एक सच्चे स्वतंत्रता सेनानी थे। उन्होंने भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया और अपने कार्य और शिष्टा के कारण 'सरहदी गाँधी', 'सीमान्त गाँधी' 'बच्चा ख़ाँ' तथा 'बादशाह गाँ' के नाम से पुकारे जाने लगे। वे भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अहिंसा के प्रयोग के लिए जाने जाते हैं। एक समय उनका लक्ष्य संयुक्त, स्वतंत्र एवं धर्मनिरपेक्ष भारत था। इसके लिए उन्होंने 920 ई. में 'खुदाई ख़िदमतगार' नाम के एक संगठन की स्थापना की, जिसे 'खुर्बपोश' के नाम से जाना जाता है। खुदाई ख़िदमतगार का जो सामाजिक संगठन अब्दुल-ग़फ़्फ़ार ख़ाँ ने बनाया था, उसका कार्य शीघ्र ही राजनीतिक कार्य में परिवर्तित हो गया। ख़ाँ साहब का कहना था कि प्रत्येक खुदाई ख़िदमतगार की यही प्रतिज्ञा होती है कि हम खुदा के बन्दे हैं, धन-दौलत या शक्ति की हमें क़द्र नहीं है और हमारे नेता सदा आगे बढ़ते चलते हैं और हम शक्ति को गले लगाने के लिए हर समय तैयार हैं। सन् 1930 ई. में सत्याग्रह करने पर उन्हें दुबारा जेल में डाला गया और उनका तबादला गुजरात (पंजाब) के जेल में कर दिया गया। यहाँ आने के बाद उनका परिचय पंजाब में अन्य राज्य बन्दियों से हुआ। जेल में ख़ाँ साहब ने गुरुग्रंथ पढ़ा और गीता का अध्ययन भी किया। हिन्दू तथा मुसलमानों के आपसी मेल-मिलाप को ज़रूरी समझकर उन्होंने गुजरात के जेलख़ाने में गीता तथा क़ुरआन के प्रकाश लगाए, जहाँ पर योग्य संस्कृतज्ञ और मौलाना हज़रात, गीता और

कुरआन का उपदेश देते थे। उनके उपदेश से अन्य कैदी भी प्रभावित हुए और गीता, कुरआन तथा गुरुग्रंथ साहब आदि सभी धार्मिक ग्रंथों का सलोगों ने अध्ययन किया।

खान अब्दुल-गफ़्फ़ार ख़ाँ के बारे में पण्डित जवाहर लाल नेहरू अपन किताब में लिखते हैं—“उन्होंने सरहदी क्षेत्रों में अंग्रेज़ी सरकार का मुक़ाबल किया। एक गाँव से दूसरे गाँव जा-जाकर सुख़्पोशों के केन्द्र स्थापित कर रहे। अतः वे और उनके साथी सरकार की निगाहों के काँटे बन गए। सरह में उनका पद किसी भी रूप से इससे कम न था, जो महात्मा गाँधी जी क भारत के दूसरे क्षेत्रों में था। सरहदी गाँधी और गाँधी जी के मध्य, कांग्रेस और सुख़्पोशों के मध्य मधुर सम्बन्ध बहुत जल्द मज़बूत और सुदृढ़ हो गए जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि ये सब लोग भी कांग्रेस में ही शामिल हो गए।”

(किताब : नेहरू, पृष्ठ-150)

आरम्भ में खान अब्दुल-गफ़्फ़ार ख़ाँ ने गाँधी जी और कांग्रेस से को सम्बन्ध रखे बिना सरहदी क्षेत्रों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध कठोर संघर्ष किया औ अपने क्षेत्र से अंग्रेज़ी साम्राज्य को ख़त्म करने के लिए सुख़्पोशों की एव सेना तैयार की। ऐसा उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना से ओतप्रो होकर किया था। फिर अन्त में उन्होंने कांग्रेस पार्टी के साथ मिलकर अपन पूरी शक्ति और सेवाभाव इस दृष्टिकोण की राह में समर्पित कर दिए, जिर पर कांग्रेस पाबन्द हुई। इसी किताब में एक दूसरे अवसर पर पण्डित जवाह लाल नेहरू सुख़्पोश संगठन के बारे में कहते हैं, “इस संगठन और इसके संस्थापक खान अब्दुल-गफ़्फ़ार ख़ाँ का राष्ट्र आन्दोलन में ऊँचा स्थान है।”

(किताब : नेहरू, पृष्ठ-243)

29 मार्च सन 1931 ई. को लंदन द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन के पू महात्मा गाँधी और तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन के बीच एक राजनैतिव समझौता हुआ, जिसे ‘गाँधी-इरविन समझौता’ (Gandhi-Irwin Pact) कहें हैं। गाँधी-इरविन समझौते के बाद खान अब्दुल-गफ़्फ़ार ख़ाँ साहब जेल र रिहा हुए और वे सामाजिक कार्यों में लग गए।

गाँधी जी इंग्लैंड से लौटे ही थे कि अंग्रेज़ी सरकार ने कांग्रेस पर फिर र

बन्दी लगा दी। अतः बाध्य होकर व्यक्तिगत अवज्ञा आन्दोलन (सिविल फ़रमानी) शुरू हुआ। सीमा प्रान्त में सरकार की ज़्यादातियों के विरुद्ध अलगुज़ारी आन्दोलन शुरू कर दिया गया। अंग्रेज़ी सरकार ने ख़ान अब्दुल-फ़ज़ार ख़ाँ साहब और उनके भाई डॉ. ख़ान को आन्दोलन का सूत्रधार बनकर सारे घरवालों को कैद कर लिया। सन् 1934 ई. में जेल से छूटने पर दोनों भाई वर्धा में रहने लगे और इस बीच उन्होंने सारे देश का दौरा किया। कांग्रेस के निश्चय के अनुसार 1939 ई. में प्रान्तीय कौंसिलों पर अधिकार प्राप्त हुआ, तो सीमा प्रान्त में भी 'कांग्रेस मंत्रिमंडल' उनके भाई डॉ. ख़ान के नेतृत्व में बना, लेकिन स्वयं वे मंत्रिमंडल से अलग रहकर न-सेवा करते रहे। सन् 1942 ई. के अगस्त आन्दोलन के सिलसिले में वे गिरफ़्तार किए गए और सन् 1947 ई. में रिहा हुए। देश का विभाजन होने पर उनका सम्बन्ध भारत से टूट-सा गया, किन्तु वे देश-विभाजन से किसी कारण सहमत न हो सके। इसलिए पाकिस्तान से उनकी विचारधारा सर्वथा अलग थी। पाकिस्तान के विरुद्ध उन्होंने 'स्वतंत्र पख़्तूनिस्तान' आन्दोलन का जीवन जारी रखा। सन 1987 ई. में उन्हें 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया।

(दैनिक भास्कर, 18 नवम्बर 2013)

सन् 1988 ई. में पाकिस्तान सरकार ने उन्हें पेशावर में उनके घर में ज़रबन्द कर दिया और उनकी मृत्यु 20 जनवरी 1988 ई. में हुई। उनकी अन्तिम इच्छानुसार उन्हें जलालाबाद अफ़ग़ानिस्तान में दफ़नाया गया।

इन सारी बातों से व्यक्तिगत अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) और पूर्ण स्वतंत्रता से सम्बन्धित मुसलमानों का दृष्टिकोण खुलकर सामने आ जाता है और यह बात सूर्य से भी ज़्यादा स्पष्ट और सर्वविदित हो जाती है कि इन तारे क्षेत्रों में मुसलमान आगे-आगे थे और इसकी मूल धुरी उनका धर्म और अपने देश से उनका निश्छल प्रेम था।

(साभार : 'आज़ादी की जिदोजुहद में मुसलमानों का हिस्सा',
लेखक : डॉ. अब्दुल-मुनअम अन-निम्र)

देश के स्वतंत्रता-संघर्ष में मुसलमानों का योगदान

■ मुहम्मद मुशताक बेग

इस्लाम मानव मात्र को परतंत्रता से छुटकारा दिलानेवाली जीवन-व्यवस्थ है। वह स्वतंत्रता का पक्षधर है। एक अल्लाह की ही इबादत की जाए औ उसके आगे ही अपना मस्तिष्क झुकाया जाए। मनुष्य, मनुष्य के आगे सि न झुकाए, न उसका शोषण करे, सबसे पहले इस स्वतंत्रता का शंखना करनेवाले मशहूर पैग़म्बर हज़रत इबराहीम (अलैहि.) हैं, जिन्होंने उस सम के अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट नमरूद के सामने अपना सिर झुकाने से साप्र इनकार कर दिया था और यह बता दिया था कि मनुष्य का सिर सिप अल्लाह के सामने झुकता है। यही सन्देश हज़रत आदम (अलैहि.) से लेकर आखिरी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) तक सभी नबियों ने सारी दुनिय को दिया है और इसी को कुरआन व हदीस में कई जगह बड़े अच्छे अन्दाज से पेश किया गया है।

17 वीं शताब्दी में यूरोप से अंग्रेज़, फ्रांसीसी, डच आदि कई लोग भारत में व्यापार करने के लिए आए। 31 दिसम्बर 1600 ई. को इंग्लैंड क महारानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को व्यापार करने का चार्ट प्रदान किया था। यहीं से अंग्रेज़ों का भारत में सही मानी में प्रवेश हुआ। स-1613 में सर टॉमस रो ने मुग़ल सम्राट जहाँगीर को भेंट आदि देकर भारत में व्यापार करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। यह व्यापारी अपने माल की रक्ष के लिए हथियारों से लैस सुरक्षाकर्मी भी रखते थे। इस तरह से उन्होंने एव अशासकीय सेना क्रायम कर ली। उस समय देश के राजा-नवाब आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे और उन्हें ये भाड़े के सैनिक सस्ते दामों में शस्त्र सहि मिल जाते थे और उसके बदले में अंग्रेज़ों को धन के साथ-साथ जागीरें भी इस तरह अंग्रेज़ व्यापार करते-करते भारत के राजाओं की फूट से यहाँ वे शासक बन गए। हालाँकि औरंगज़ेब ने इनकी चाल को समझ लिया था औ

ापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनके वंशज क्रमजोर होने से मुग़ल साम्राज्य कई हिस्सों में बंट गया और राजा-नवाब तंत्र हो गए।

1757 ई. में प्लासी के युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला ने सबसे पहले अंग्रेज़ी ज से टक्कर ली। मगर उसका दुर्भाग्य था कि उसके सेनापति मीर जाफ़र, र्त्तभ राय तथा सेठ अमीनचन्द आदि ने उसके साथ विश्वासघात किया और राजुद्दौला को हार का मुँह देखना पड़ा। 1764 ई. में मीर कासिम, राजुद्दौला और शाह आलम ने मिलकर फिर एक बार अंग्रेज़ों को खदेड़ने का प्रयास किया, किन्तु यहाँ भी उन्हें हार का मुँह देखना पड़ा।

अंग्रेज़ बंगाल, बिहार, उड़ीसा में अपना शिकंजा कस रहे थे और भारत, सोने की चिड़िया थी, उसे लूटपाट कर जनता को तबाह व बरबाद कर रहे थे। जनता के पहले आन्दोलनकारी मजनुं शाह, मूसा शाह, सिराज अली, मुहम्मद तथा उनके अनेक साथियों ने 80 हजार मुजाहिद इकट्ठे किए। जनरल मैकेंजी, कमांडर केड्रथ, लेफ्टीनेंट राबर्टसन की फ़ौज को पहली बार बुरी तरह से हराया। यह युद्ध 1776 ई. में हुआ था, मगर बाद में अंग्रेज़ियों की सेना कमजोर पड़ गई और उनकी शक्ति अंग्रेज़ों ने छिन्न-भिन्न कर दी, फिर भी इन्होंने भारत की आज़ादी की मशाल अपने खून से जलाकर जनता को देशप्रेम के लिए तैयार कर दिया था।

मौलवी शरीअतुल्लाह ख़ाँ ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन चला किया था। उनका साथ बंगाल के दादू मियाँ ने दिया। इस फ़ौज के कमांडर मुहम्मद मीर मिसाल अली उर्फ़ टीटू मियाँ थे, जिन्होंने अंग्रेज़ों की शक्ति में दम कर दिया था। आज भी इनकी वीरगाथा बंगाली में बंगाल के लोग बड़े उत्साह व गौरव से गाते हैं, किन्तु इनका भी अन्त अंग्रेज़ों ने अपनी अत्याचारी नीति के तहत किया और उनके साथियों को फाँसी के फन्दे पर चकाया गया, कई को काला पानी भेजा गया। दक्षिण में भी अंग्रेज़ों को देश खदेड़ने के लिए महान सेनानी शैरे-कर्नाटक हैदर अली और उनके वीर सहायों ने मुहम्मद टीपू सुल्तान ने अंग्रेज़ों की नाक में दम कर लोहे के चने चनाए। किन्तु यहाँ भी कुछ देशद्रोहियों ने उनके साथ विश्वासघात किया

और टीपू सुल्तान को इस देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी आज उनकी मज़ार भी रंगापट्टम में देश को याद दिलाती है कि आज़ाद का क्या महत्व है।

अंग्रेज़ देश में फूट डालकर और देशवासियों को लड़ाकर अपना साम्राज्य बड़ी तेज़ी से फैला रहे थे। हमारा ही पैसा और हमारे ही सिपाही उनका साधे रहे थे। किन्तु जब उन्होंने अन्याय की सीमा लांघ दी तो सारे देश 1857 की एक ज़ोरदार क्रान्ति की तैयारी प्रारम्भ हुई। दिल्ली के मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र, फ़िरोज़ शाह, नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, झांसी व महारानी लक्ष्मीबाई व कई देशी राज्यों के सिपाही इस क्रान्ति में कफ़ बांधकर कूद पड़े। इस क्रान्ति के सूत्रधार नाना साहब पेशवा के प्रधानमंत्री अज़ीमुल्लाह ख़ाँ थे, जिन्हें नाना साहब पेशवा ने अपना वकील बनाकर लंदन भेजा था। जहाँ वे दस वर्ष तक अंग्रेज़ों की चालों को समझते रहे और भारत आकर उन्होंने एक गुप्त योजना बनाई, जो साधु, फ़क़ीरों के भेष कमल के फूल और रोटियों के अन्दर देश की छावनियों में भेजी गई। 31 मई 1857 ई. को रविवार आता है, इस दिन सारे अंग्रेज़ स्त्री-बच्चों के साथ गिरजाघर अवश्य जाएँगे और उस दिन प्रार्थना के बाद जब अंग्रेज़ बाहर निकलेंगे। हर दरवाज़े पर दो-दो सिपाही तलवार व बन्दूक लेकर इनका ख़ात्मा कर देंगे ताकि देश में एक भी अंग्रेज़ बच न सकेगा। दुर्भाग्य से मा 1857 ई. को मेरठ की छावनी में कारतूसों के चर्बी के सम्बन्ध में सिपाहियों को मंगल पांडे ने क्रान्ति का बिगुल बीच में ही बजा दिया और क्रान्ति भड़क उठी और वह 31 मई वाली योजना कार्य रूप न ले सकी। फिर भी अज़ीमुल्लाह ख़ाँ ने मेजर लारेंस व उसके पन्द्रह साथियों को कोलकाता जाने वाली नाँ में नहीं जाने दिया और सारे अंग्रेज़ों को अपने सिपाहियों से कटवाकर गंगे को लाल कर दिया।

देशी राज्यों के सिपाहियों में झाँसी के गुलाम ग़ौस, तोपख़ाने के इन्चा थे और उनके साथ हज़ारों पठान सिपाही इस क्रान्ति में कूद गए और प्राण की आहुति दी। इस क्रान्ति में अपने प्राणों की आहुति देकर इंदौर का नाँ उँचा करनेवालों में अमर शहीद शहादत ख़ाँ तथा भागीरथ सिल्लावट के नाँ

ल्लेखनीय हैं। अवध की बेगम हज़रत महल ने भी इस क्रान्ति में ढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। उनके साथ मौलवी रहमतुल्लाह शाह भी थे, उन्हें अंग्रेज़ों ने जेल में डाल दिया था। किन्तु सिपाहियों ने जेल तोड़कर नको रिहा कराया। ऐसे कई देश प्रेमियों ने इस महान क्रान्ति में अपना गदान दिया।

इस 1857 ई. की क्रान्ति में हिन्दू-मुस्लिम सब मिलकर अंग्रेज़ों से लड़े , सबका खून भारत के काम आया था। यह क्रान्ति कई कारणों से सफल रही, वह अलग विषय है। लेकिन अंग्रेज़ों ने इसके बाद भारत पर अपना शिकंजा मज़बूत कर लिया था और वे भारतीयों पर जुल्म व सितम ा पहाड़ तोड़ने के लिए पूरी तरह तैयार हो गए थे।

अंग्रेज़ भारत में राज करने के साथ-साथ ईसाई धर्म का प्रचार करना ाहते थे। उसके लिए इंग्लैंड से पादरी, जिनमें मशहूर पादरी पिंडर तथा न्य बिशप, डॉक्टरों को भारत भेजना शुरू किया। इन लोगों ने आकर पना मिशन बड़ी तेज़ी से चलाया और देश के ग़रीब निर्धन लोगों को ईसाई नाने के लिए लालच, पैसा, धौंस आदि दी। कुछ ने धर्म परिवर्तन कर ाया, किन्तु उनका सबसे पहला विरोध मुस्लिम उलेमा ने किया। इनमें मुख्य ज़रत शाह वली-उल्लाह रहमतुल्लाहिअलैह, शाह अब्दुल-अज़ीज़ ने 1803 में अंग्रेज़ों के विरुद्ध जिहाद का फ़तवा जारी किया कि अंग्रेज़ों को भारत बाहर किया जाए और उनसे जिहाद किया जाए। इनके इस फ़तवे का रे मुस्लिम जगत में बड़ा स्वागत हुआ और मुसलमान तब से अंग्रेज़ों के रुद्ध हो गए। उसमें सैयद अहमद शहीद, सैयद इसमाईल शहीद तथा नके कई साथी शहीद हुए। कहा जाता है कि इस आन्दोलन में 50 हज़ार ज्यादा मौलवी, मुल्ला व दीन के रहबर शहीद किए गए। उन्हें तोपों के ह पर बाँधकर उड़ा दिया गया। कईयों को मस्जिद और ख़ानकाहों में फाँसी र लटका दिया गया और यह तय किया गया कि अगर इन मौलवी, ल्लाओं को भारत में ख़त्म कर दिया जाए तो ईसाइयत आराम से फैल केगी।

25 दिसम्बर 1885 ई. को कांग्रेस की स्थापना की गई, इसमें भी कई

मुस्लिम रहनुमाओं ने अपना योगदान दिया। आज़ादी से पहले सा मुसलमान कांग्रेस अध्यक्ष चुने गए, उनमें सबसे पहले अध्यक्ष बदरुद्दीन तैय जी 1887, रहमत-उल-सियानी 1896, हसन इमाम 1918, हकीम अजम ख़ाँ 1921, मौलाना मुहम्मद अली 1923, डॉ. मुख्तार अहमद अनसा 1927 व आखिरी अध्यक्ष मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद 1940-1946 तक रहे। किन्तु दुर्भाग्य है कि आज़ाद भारत में 1947 के बाद आज तक किस मुसलमान को कांग्रेस अध्यक्ष नहीं बनाया गया। हालाँकि कांग्रेस को ताक देने के लिए मौलवी मुहम्मद शौकत अली, मुहम्मद अली जौहर, सर आ ख़ाँ, फ़िरोज़ शाह, हसरत मोहानी, डॉ. अनसारी, मुशीर अहमद क्रिदवाः सैयद अमीर अली, बी अम्मा, जाफ़र अली, डॉ. मुहम्मद अशरफ़, ज़ाकि हुसैन, फ़ख़रुद्दीन अली अहमद, रफ़ीउद्दीन क्रिदवाई, मौलाना हफ़ीजुर्रहमा आदि की बहुत लम्बी लिस्ट है।

इन्होंने कांग्रेस के लिए लाठियाँ खाईं, जेल गए और अन्य कांग्रेसियों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर भारत को जो आज़ादी दिलाई है उसमें आप इनका योगदान भी किसी से कम नहीं है। जहाँ गाँधी जी हैं वहाँ सरहट गाँधी अब्दुल-ग़फ़ार ख़ाँ भी हैं, जवाहरलाल नेहरू हैं, बैरिस्टर आसिफ़ अल भी हैं। इन्दौर में देशी राज होने से कांग्रेस की शाखा प्रजामण्डल थी औ उसमें इन्दौर के मशहूर मुस्लिम नेता अब्दुर्रुफ़, सैयद हामिद अली, चौधर फ़ैजुल्लाह, अमीर मुहम्मद ख़ाँ, अब्दुल-हमीद वगैरह ने उत्तरदाई शासन के माँग की।

क्रान्तिकारियों में जहाँ चन्द्रशेखर का नाम है वहाँ अशफ़ाकुल्लाह व कुरबानी भी कम नहीं है। जलियाँवाला बाग़, जहाँ अंग्रेज़ जनरल डायर ने निहत्थे देशवासियों के खून से होली खेली थी, उसमें आधे से ज़्यादा मुसलमानों के खून की नदी बही थी, जिसमें सभा के सदर अज़मतुल्लाह थे। काबुल में पहली आज़ाद सरकार राजा महेन्द्र प्रताप सिंह के नेतृत्व में बनी थी उसके प्रधानमंत्री और सारी योजना का सूत्रधार मशहूर स्वतंत्र सेनानी बरकतुल्लाह ख़ाँ भोपाली थे।

आज़ाद हिन्द फ़ौज नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने क्रायम की तो सारा पैस

गून के प्रसिद्ध सेठ अबू-बक्र व उनके साथी अब्दुल-करीम सेठ आदि ने गाया। आज़ाद हिन्द फ़ौज के जनरल शाहनवाज़ थे तो नेताजी के अंगरक्षक अब्दुल-रहीम अब्दुल-करीम भी थे और इस सेना में काफ़ी तादाद में मुसलमान सिपाही व अफ़सर भी देश के लिए भूखे-प्यासे असम व रंगून की पहाड़ियों में सिर पर कफ़न बांधे शामिल थे।

स्वतंत्रता संग्राम में मुस्लिम महिलाएँ जिनमें प्रसिद्ध हज़रत महल का र्णन तो ऊपर आ ही चुका है, बथौर की अज़ीज़न ने 1857 ई. में तान्त्रिकारियों में अपने गीतों से और औजस्वी भाषणों से जोश पैदा किया था।

बी अम्माँ, जो मौलाना मुहम्मद अली व शौकत अली की माँ थीं, जेन्होंने अपने दोनों वीर पुत्रों को इतना उत्साह व जोश भर दिया था कि वे इस महान स्वतंत्रता युग में अमर हो गए। इन दोनों अली ब्रदर से शिमला में डिप्टी सुपरिटेण्डेंट अब्दुल-मजीद ने अंग्रेज़ों के पक्ष में एक शपथ पत्र इस्ताफ़र कराने के लिए ज़ोर डाला तो बी अम्माँ ने परदे से निकलकर उस शपथ पत्र को फाड़ दिया और कहा कि मेरे बेटे देशद्रोही नहीं बन सकते, उन्हें तो मैंने देश आज़ाद करने के लिए पैदा किया है।

बेगम हसरत मोहानी (निशातुन्निसा) 1908 ई. में जब हसरत मोहानी की गिरफ़्तारी हुई, उस वक़्त उनकी एक दूध पीती बच्ची नईमा बहुत बीमार थी, उस वक़्त अंग्रेज़ों ने हसरत मोहानी को गिरफ़्तार किया तो उस वक़्त जो उदगार उस बेगम ने सुनाया था, उसे अंग्रेज़ सुनकर दँग रह गए। ये हसरत मोहानी वही हैं जिन्होंने 1921 ई. में हैदराबाद कांग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखा था। यह उनकी देशप्रेमी पत्नी थी। आज़ादी में इनके कई कारनामे हैं।

बीबी इसमतुस्सलाह पटियाला की एक रईस परिवार कर्नल अब्दुल-हमीद ख़ाँ की पुत्री थीं और इन्होंने भी आज़ादी के आन्दोलन में ख़ूब बढ़-चढ़कर भाग लिया था। आमना कुरैशी जिनके पिता इमाम अब्दुल-क्रादिर व पति गुलाम रसूल कुरैशी, जिन्होंने गाँधी जी के साथ साबरमती आश्रम में बरसों

रहकर देश को आज़ाद कराने में अपनी पूरी ज़िन्दगी वक़फ़ कर दी। मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद की पत्नी जुलेखा बेगम को बीमार हालत में छोड़कर मौलाना जेल चले गए और 19 अप्रैल 1943 ई. को जुलेखा बेगम अल्ला को प्यारी हुई। जब मौलाना जेल से छूटे तो जनता ने उनकी कार को हाथ से लाद दिया, उनके दिल में उस समय अपनी बेगम जुलेखा की याद में डूबे हुए मौलाना पर क्या गुज़र रही थी, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आखिर मौलाना जेल से छूटते ही अपनी बीवी की कब्र पर गए, फ़ातिहा पढ़े और अपनी ज़िन्दगी की पुरानी यादों को ताज़ा किया। ऐसी कई बीवियों ने इस देश की आज़ादी के लिए अपने सुहागों की कुरबानियाँ दीं, बच्चों को कुरबान किया जिनके नाम गिनाना बेहद कठिन है।

शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ

■ प्रस्तुति : इरशाद अली आजमी

भारत के महान क्रान्तिकारी शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ वारसी 'हसरत' का जन्म उत्तर प्रदेश के शहीदगढ़ शाहजहाँपुर में रेलवे स्टेशन के पास स्थित रुदनख़ैल जलाल नगर के एक मुहल्ले में 22 अक्टूबर 1900 ई. को हुआ था। उनके पिता का नाम मुहम्मद शफ़ीकुल्लाह ख़ाँ और माँ का नाम नज़हूरुन्निशाँ बेगम था, जिनकी गणना समाज के सभ्य व सुचरित्र महिलाओं में होती थी।

शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ ने स्वयं अपनी डायरी में लिखा है कि जहाँ तक एक ओर उनके पिता, दादा व परदादा के खानदान में कोई एक भी व्यक्ति स्नातक तक की शिक्षा प्राप्त न कर सका, वहीं दूसरी ओर उनकी ननिहाल में सभी लोग उच्च शिक्षित थे। उनमें से तो कई लोग डिप्टी कलेक्टर व सब जुडीशियल मजिस्ट्रेट के पदों पर काम कर चुके थे। सन् 1857 ई. की क्रान्ति में अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ के ननिहालवालों ने जब भारतीय आन्दोलनकारियों का साथ नहीं दिया तो आन्दोलनकारियों ने क्रोध में आकर उनकी भव्य कोठी में आग लगा दी थी। आज भी वह कोठी पूरे शहर में 'जली कोठी' के नाम से प्रसिद्ध है। बहरहाल अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ ने देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देकर अपने ननिहाल वालों के नाम पर लगे उस बदनुमा दाग़ को हमेशा के लिए धो डाला।

अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ अपने माता-पिता की सबसे छोटी सन्तान थे। बचपन का नाम आपका 'अच्छू' था, लोग आपको इसी नाम से पुकारते थे। एक दिन उनके बड़े भाई रियासतुल्लाह ख़ाँ ने अशफ़ाकुल्लाह को बिस्मिल के बारे में बताया कि वह बड़ा ही योग्य व प्रतिभाशाली व्यक्ति है और उच्चकोटि का शायर भी। शायद आजकल मैनपुरी काण्ड में गिरफ्तारी की वजह से शाहजहाँपुर में दिखाई नहीं दे रहा है। काफ़ी दिनों से भूमिगत है, खुदा जाने किन परिस्थितियों में ज़िन्दगी बसर कर रहा होगा। पण्डित

रामप्रसाद बिस्मिल, रियासतुल्लाह ख़ाँ का सबसे योग्य व भला सहपाठी है अपने बड़े भाई के मुँह से रामप्रसाद बिस्मिल की प्रशंसा सुनने के बा अशफ़ाक़ुल्लाह उसी समय से उनसे मिलने के लिए बेताब हो गए।

वक्त गुज़रता रहा। सन् 1920 ई. में अंग्रेज़ी सरकार के 'आम मार्फ़' के बाद रामप्रसाद बिस्मिल अपने शहर शाहजहाँपुर आए और अपने घरे कारोबार में लग गए। अशफ़ाक़ ने कई बार बिस्मिल से मुलाक़ात करके उनका विश्वास प्राप्त करना चाहा, मगर सफलता प्राप्त नहीं हुई। अतः एक दिन रात के समय खन्नौत नदी के किनारे एक सुनसान स्थान पर मीटिंग हो रही थी कि अशफ़ाक़ अचानक वहाँ जा पहुँचे। बिस्मिल के एक शेर प जब अशफ़ाक़ ने आमीन कहा तो, बिस्मिल ने उन्हें पास बुलाकर उनका परिचय पूछा। यह जानकर कि अशफ़ाक़ उनके घनिष्ठ मित्र व सहपाठ रियासतुल्लाह ख़ाँ का छोटा भाई है और उर्दू का शायर भी है, तो रामप्रसाद बिस्मिल ने उससे आर्यसमाज मन्दिर में आकर उनसे अलग से मिलने का कहा।

घरवालों के लाख मना करने पर भी अशफ़ाक़ आर्यसमाज मंदिर पहुँचें और रामप्रसाद बिस्मिल से काफ़ी देर बातचीत करने के बाद उनकी पार्ट 'मातृवेदी' के सक्रिय सदस्य भी बन गए। यहीं से उनके जीवन का नय अध्याय शुरू हुआ, वे शायर के साथ-साथ राष्ट्र के सेवक भी बन गए।

अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ बहुत ही दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने रामप्रसाद बिस्मिल को सलाह दी कि क्रान्तिकारी गतिविधियों के साथ-साथ कांग्रेस पार्टी में भी अपनी पैठ बनाकर रखना हमारी सफलता में सहायक ही सिद्ध होगी। अतः अशफ़ाक़ व बिस्मिल के साथ शाहजहाँपुर के कई और नवयुवकों ने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की और पार्टी को राष्ट्रीय शक्ति प्रदान की। सन् 1921 ई. में अहमदाबाद में कांग्रेस के अधिवेशन में रामप्रसाद बिस्मिल व प्रेमकृष्ण खन्ना के साथ अशफ़ाक़ भी शामिल हुए इस अधिवेशन में उनकी मुलाक़ात मौलाना हसरत मोहानी से हुई, जिनका गणना कांग्रेस के वरिष्ठ मालदारों में होती थी।

मौलाना हसरत मोहानी द्वारा प्रस्तुत 'पूर्णस्वराज' के प्रस्ताव का जब गाँधी जी ने विरोध किया, तो शाहजहाँपुर के कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने गाँधी जी का डटकर विरोध किया और खूब हंगामा मचाया। अन्ततः गाँधी जी को चाहते हुए भी वह प्रस्ताव स्वीकार करना ही पड़ा। इसी प्रकार सन् 1922 ई. में गया कांग्रेस में भी नवयुवकों द्वारा गाँधी जी की जमकर खिंचाई की गई, इसमें बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के नवयुवक एक हो गए। उन सबका गाँधी जी से एक ही प्रश्न था—

“आपने किससे पूछकर असहयोग आन्दोलन वापस लिया है ?”

सन् 1922 ई. में गया कांग्रेस के बाद पार्टी में दो दल बन गए, एक धनिक वर्ग के लोगों का और दूसरा साधारण वर्ग से आए हुए नवयुवकों का। प्रथम दल ने 1 जनवरी सन् 1923 ई. को “स्वराज पार्टी” बना ली और दूसरे दल ने क्रान्तिकारी पार्टी के गठन का मन बना लिया। बंगाल के कुछ नौयुवक सीधे शाहजहाँपुर आकर मैनपुरी षड्यंत्र के अनुभवी क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल से मिले और उनसे नई पार्टी के गठन में सहयोग करने का आग्रह किया। बिस्मिल उन दिनों सिल्क की साड़ियों के कारोबार में उलझे हुए थे, उनके पास समय नहीं था। इस पर अशफ़ाक़ ने उन्हें समझाया और अपनी ओर से पूरा सहयोग करने का वचन दिया। इसके बाद बिस्मिल ने अपने साझीदार बनारसी लाल को अपना सारा कारोबार सौंपकर पूरे मन से क्रान्तिकारी पार्टी के काम में जुट गए। पार्टी की ओर से 1 जनवरी सन् 1925 ई. को अंग्रेज़ी में छापे गए घोषणापत्र ‘दि रिवोल्यूशनरी’ को पूरे उत्तर प्रदेश के प्रत्येक ज़िले तक पहुँचाने में अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ की सराहनीय भूमिका को देखते हुए एच. आर. ए. के केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्य योगेश चन्द्र चटर्जी ने अशफ़ाक़ को बिस्मिल का सहकारी (लेफ़्टीनेन्ट) मनोनीत किया और प्रदेश की ज़िम्मेदारी इन दोनों के कन्धे पर डालकर स्वयं बंगाल चले गए।

बंगाल में शचीन्द्रनाथ सान्याल और योगेश चन्द्र चटर्जी जैसे दो प्रमुख व्यक्तियों के गिरफ़्तार हो जाने पर ‘हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन’ का पूरा दारोमदार रामप्रसाद बिस्मिल के कन्धों पर आ गया। जब आयरलैंड के

क्रान्तिकारियों की तर्ज पर जबरन धन छीनने की योजना बनाई गई, त अशफ़ाक़ ने अपने बड़े भाई की लाइसेंसी बन्दूक और दो पेट्टी कारतूस बिस्मिल को उपलब्ध कराए, ताकि धनवानों से धन छीनकर पार्टी के लिए पैसा इकट्ठा किया जा सके। किन्तु जब बिस्मिल ने सरकारी खज़ाना लूटने की योजना बनाई तो अशफ़ाक़ ने अकेले ही कार्यकारिणी की मीटिंग में इसका खुलकर विरोध किया। उनका तर्क था कि अभी यह क़दम उठाने ख़तरा से ख़ाली न होगा, ब्रिटिश सरकार हमें विनष्ट कर देगी।

इस पर सब लोगों ने बिस्मिल पर व्यंग्य कसा, “पण्डित जी ! देख लें न इस मियाँ जी की करतूत। हमारी पार्टी में एक मुस्लिम को शामिल करने की ज़िद का प्रभाव अब आप ही भुगतिए, हम लोग तो चले।” इस पर अशफ़ाक़ ने कहा—पण्डित जी हमारे नेता हैं उनका निर्णय हमें स्वीकार है आज हम कुछ नहीं कहेंगे, लेकिन कल सारी दुनिया देखेगी कि एक पठान ने इस ऐक्शन को किस तरह अंजाम दिया और वही हुआ, अगले दिन 1 अगस्त 1925 की शाम ‘काकोरी स्टेशन’ से जैसे ही ट्रेन आगे बढ़ी राजेन्द्रनाथ लाहड़ी ने चेन खींची, अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ ने ड्राइवर की कनपर्ट पर माउजर (रिवाल्वर) रखकर उसे अपने कब्जे में ले लिया और रामप्रसाद बिस्मिल ने गार्ड को औंधे मुँह ज़मीन पर लिटाते हुए खज़ाने का बक्सा नीचे गिरा दिया। लोहे की मज़बूत तिजोरी जब किसी से न टूटी तो अशफ़ाक़ ने अपना माउजर मम्मथनाथ गुप्त को पकड़ाया और धन लेकर पूरी ताक़त के साथ तिजोरी पर टूट पड़े और तिजोरी तोड़ दी।

इस घटना के बाद 26 सितम्बर 1925 ई. की रात जब पूरे देश में एव साथ गिरफ़्तारियाँ हुईं तो अशफ़ाक़ पुलिस की आँखों में धूल झाँककर फ़रार हो गए। पहले वे नेपाल गए, कुछ दिन वहाँ रहकर कानपुर आ गए और गणेश शंकर विद्यार्थी के प्रताप प्रेस में दो दिन रुककर वहाँ से बनारस होते हुए बिहार के एक ज़िले डाल्टेनगंज में कुछ दिनों नौकरी की, परन्तु पुलिस को इसकी भनक लगने से पहले ही वे कानपुर आ गए। विद्यार्थी जी ने अपने पास से कुछ रुपए देकर भोपाल उनके बड़े भाई रियासतुल्लाह ख़ाँ के पास भेज दिया। कुछ समय वहाँ रहकर अशफ़ाक़ राजस्थान गए और अपने भा

४ मित्र अर्जुनलाल सेठी के घर ठहरे। सेठी जी की लड़की उन पर आशिक्र से गई और उनके सामने शादी का प्रस्ताव रखा। अन्ततः वहाँ से निकल कर वे अपने शहर शाहजहाँपुर में अपने एक दोस्त के घर पर ठहरे। परिस्थितियों से परेशान होकर अशफ़ाक़ ने पासपोर्ट बनवा कर किसी प्रकार देल्ली से बाहर जाकर लाला हरदयाल से मिलने की योजना बनाई ही थी कि केसी भेदिए की ख़बर पर दिल्ली गुप्तचर शाखा के पुलिस उपकप्तान इकरामुल हक़ ने उन्हें पकड़ लिया। ऐसा कहा जाता है कि उस दोस्त ने ही अशफ़ाक़ को पकड़वाने में पुलिस की सहायता की थी।

यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है कि 'काकोरी काण्ड' का फ़ैसला 6 अप्रैल 1926 ई. को ही सुना दिया गया था, मगर अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ और शचीन्द्रनाथ सान्याल को पुलिस बाद में गिरफ़्तार कर पाई थी। अतः स्पेशल पेशन जज जे. आर. डब्लू. बैनेट (डॉ. एन. सी. मेहरोत्रा व मनीष टंडन, स्वतंत्रता आन्दोलन में शाहजहाँपुर जनपद का योगदान, पृष्ठ-134) की अदालत में 7 दिसम्बर 1926 ई. को एक मुक़दमा दायर किया गया। मुक़दमे के न्यायाधीश एनुद्दीन ने अशफ़ाक़ को सलाह दी कि वे किसी मुस्लिम वकील को नियुक्त करें, परन्तु अशफ़ाक़ ने ज़िद करके कृपाशंकर हजेला को अपना वकील नियुक्त किया। इस पर एक दिन सी. आई. डी. के पुलिस कप्तान ख़ानबहादुर तसदुक़ हुसैन जेल में जाकर अशफ़ाक़ से मिले और उन्हें फ़ाँसी की सज़ा से बचने के लिए सरकारी गवाह बनने की सलाह दी और उन्हें एकान्त में ले जाकर समझाया—

“देखो अशफ़ाक़ भाई ! तुम भी मुस्लिम हो और अल्लाह के फ़ज़ल से मैं भी मुस्लिम हूँ। इस वजह से मैं तुम्हें सूचित कर रहा हूँ कि ये रामप्रसाद बिस्मिल इत्यादि सारे लोग हिन्दू हैं और ये यहाँ हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहते हैं। तुम इन लोगों के चक्कर में आकर अपना जीवन क्यों व्यर्थ करने पर तुले हुए हो। मैं तुम्हें अन्तिम बार समझाता हूँ, मान जाओ, फ़ायदे में रहोगे।”

ख़ानबहादुर तसदुक़ हुसैन की इतनी बात सुनते ही अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ की तयोरियाँ चढ़ गईं और वे गुस्से में डाँटकर बोले—

“खबरदार ! जुबान सम्भाल कर बोलिए। पण्डित जी को मैं आपसे ज्यादा जानता हूँ। उनका उद्देश्य यह बिलकुल नहीं है और अगर है भी तो हिन्दू राज्य तुम्हारे इस अंग्रेजी राज्य से अच्छा ही होगा। आपने उन्हें काफ़ि कहा, इसके लिए मैं आपसे यही अनुरोध करूँगा कि आप इसी क्षण यहाँ से चले जाएँ। अन्यथा मेरे ऊपर दफ़ा 302 (क्रल्ल) का एक केस और क़ायम हो जाएगा।”

इतना सुनते ही बेचारे कप्तान साहब तसहुक़ हुसैन की सिट्टी-पिट्टई गुम हो गई और वे वहाँ से चुपचाप चले गए। बहरहाल 13 जुलाई 1927 ई. को पूरक मुक़दमे (सप्लीमेंट्री केस) का फ़ैसला सुना दिया गया। दफ़ा 121 बी. व 121 ए. के अन्तर्गत आजीवन कारावास और 396 के अन्तर्गत सज़ाए मौत अर्थात् फाँसी की सज़ा।

जज ने अपने फ़ैसले में साफ़-साफ़ लिखा था कि इन अभियुक्तों ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए यह षड्यंत्र नहीं किया था, मगर फिर भी अगर ये लोग अपने कृत्य पर पश्चाताप करें तो इनकी सज़ा कम की जा सकती है। वकील की सलाह पर लखनऊ जेल में जाकर अशफ़ाक़, रामप्रसाद बिस्मिल से मिले और उनका मत जानना चाहा। बिस्मिल ने उन्हें समझाया कि जिस प्रकार शतरंज के खेल में हारी हुई बाज़ी जीतने के लिए कभी-कभार अपने एक या दो मोहरे मरवाने ही पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार हम लोग भी माफ़ीनामा दायर कर अपने-आपको मौत की सज़ा से बचा सकें तो अच्छा होगा। पारस्परिक सहमति से इधर रामप्रसाद बिस्मिल ने और उधर अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ ने अपनी-अपनी दया-याचिका दायर की। अशफ़ाक़ ने पहली दया-याचिका 11 अगस्त 1927 ई. व दूसरी दया-याचिका 29 अगस्त सन् 1927 को लिखकर भेजा। इसके अतिरिक्त वकील की सलाह पर एक दया-याचिका अशफ़ाक़ की माँ मज़हूरुन्निसा बेगम की ओर से वायसराय और गवर्नर जनरल को भेजी गई, परन्तु उस पर कोई विचार नहीं हुआ। अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ व उनकी माँ के बाद विधानसभा सदस्यों ने संयुक्त रूप से हस्ताक्षर करके एक स्मरणपत्र संयुक्त प्रांत के गवर्नर विलियम मोरिस के एक मेमोरेण्डम नैनिताल भेजा। उसके साथ ही पं. गोविन्द वल्लभ पन्त व

गे. वाई. चिन्तामणि ने भी एक प्रार्थना पत्र भेजा किन्तु सब प्रयत्न बेकार हो रहे। अतः 22 सितम्बर 1927 ई. को होम सेक्रेट्री एच. डब्लू. हेग ने अपनी फ़ाइनल रिपोर्ट दी, जिसके अन्त में उसने स्पष्ट लिखा था—

“इन लोगों का उद्देश्य एक स्थापित सरकार को उलटना था। चूँकि यह तरी तरह सिद्ध हो चुका है, अतः इस मामले में फाँसी ही दी जा सकती है, जबकि बंगाल षड्यंत्र में, जिसकी यह एक शाखा थी अब तक ऐसी कोई श्यात्मक पुष्टि नहीं हुई है, अतः वहाँ के लोगों को फाँसी की सज़ा से मुक्त करा गया है। मुझे पक्का विश्वास है कि यदि इन्हें फाँसी की सज़ा न देकर पोंवित छोड़ दिया गया, तो ये बंगाल तो क्या पूरे हिन्दुस्तान में फैल पाएँगे।”

(डॉ. मदन लाल वर्मा 'क्रान्त, स्वाधीनता संग्राम के क्रान्तिकारी साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृष्ठ-537-538)

इन तमाम अपीलों व दलीलों का इतना प्रभाव ज़रूर पड़ा कि फाँसी की तारीख़ दो बार आगे बढ़ा दी गई। पहले तारीख़ 16 सितम्बर 1927 ई. थी, तो बाद में बढ़ाकर 11 अक्टूबर 1927 ई. कर दी गई। चूँकि लन्दन की प्रेसी-कौंसिल में दया-याचिका जा चुकी थी, अतः फाँसी की तारीख़ फिर से आगे के लिए टाल दी गई। आखिरकार 19 दिसम्बर 1927 ई. की तारीख़ तय की गई और इसकी सूचना चारों जेलों में भेज दी गई। फ़ैज़ाबाद जेल में यह सूचना पहुँचते ही अशफ़ाक़ ने 29 नवम्बर 1927 ई. को अपने डे भाई रियासतुल्लाह ख़ाँ को 15 दिसम्बर 1927 ई. को अपनी माँ ज़हूरुन्निसा बेगम तथा 16 दिसम्बर 1927 ई. को अपनी मुँह बोली बहन लिली दीदी को पत्र लिखा और खुदा की इबादत में लग गए।

15 दिसम्बर 1927 ई. दिन गुरुवार की शाम फ़ैज़ाबाद जेल की काल ज़ेठरी से अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ाँ ने अपना यह अन्तिम सन्देश भारत की जनता को नाम लिखकर उर्दू भाषा में भेजा। उनका उद्देश्य यह था कि मुस्लिम समुदाय के लोग इस पर विशेष ध्यान दें। एक पुलिस अधिकारी पं. विद्यार्णव वर्मा की पुस्तक 'युग के देवता : बिस्मिल और अशफ़ाक़' में पृष्ठ संख्या

172 से 178 तक यह पूरा सन्देश दिया हुआ है, जो इस तरह है—

“ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर एजेंट धार्मिक आधार पर दुष्प्रचार कर रहे हैं। इन लोगों का उद्देश्य धर्म की रक्षा करना या उन्नति नहीं है, बल्कि चलत गाड़ी में रोड़ा अटकाना है। मेरे पास समय नहीं है और न अवसर है कि सकच्चा-चिट्ठा खोलकर रख देता, जो मुझे भूमिगत रहने में और उसके बालमालूम हुआ। जहाँ तक मुझे मालूम है कि मौलवी नियामतुल्लाह क़ादयान् कौन था, जिसको काबुल में संगसार कर दिया गया। वह ब्रिटिश एजेंट था जिसके पास हमारे मेहरबान खानबहादुर तसदुक् हुसैन साहब डिप्टी सुपरिंटेंडेंट सी. आई. डी. भारत सरकार सन्देश लेकर गए थे। मगर कुशाग्र काबुल सरकार ने उसका उपचार शीघ्र कर दिया और रोग को वहाँ पर फैलने दिया।” (विद्यार्णव शर्मा, युग के देवता : बिस्मिल और अशफ़ाक़, पृष्ठ-178)

इसके बाद उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के हित में और अहमदाबा कांग्रेस जैसा मेल-मिलाप, गोरी अंग्रेज़ियत का भूत उतारने की बात करते हुए देश के सभी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से विदेशी मोह व देशी चीज़ों से नफ़रत का त्याग करने की अनमोल नसीहत देते हुए चन्द अंग्रेज़ी पंक्तियों के साथ रुख़सत होने की गुज़ारिश की थी।

“मेरे भाइयो! मेरा सलाम क़बूल करो और इस अधूरे काम को, जो हमारा रह गया है, तुम पूरा करना। तुम्हारे लिए हमने उत्तर प्रदेश का कार्य-क्षेत्र तैयार कर दिया है। अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने। मैं कुछ पंक्तियों के बाद विदा होता हूँ।”

(विद्यार्णव शर्मा युग के देवता : बिस्मिल और अशफ़ाक़ पृष्ठ-177)

"The every man upon this Earth, death cometh soon or late. But how can man die better, Than facing fearful odds. For the ashes of his fathers, and Temples of his goods."

फ़ाँसी वाले दिन सोमवार 19 दिसम्बर 1927 ई. को अशफ़ाक़ हमेशा व तरह सुबह उठे, शौच आदि क्रिया से निवृत्त होकर स्नान किया। कुछ देर तक पवित्र कुरआन की आयतों को पढ़ा, फिर किताब बन्द करके उसे आँखों से लगाया, फिर अपने-आप जाकर फ़ाँसी के तख़्ते पर खड़े हो गए और कह

‘मेरे ये हाथ इनसानी खून से नहीं रंगे, खुदा के यहाँ मेरा न्याय होगा।’
कर आपने फाँसी का फन्दा अपने गले में डाल लिया।

शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ का मृत शरीर फ़ैज़ाबाद ज़िला कारागार से शाहजहाँपुर लाया जा रहा था। लखनऊ स्टेशन पर गाड़ी बदलते समय कानपुर से बीमारी के बावजूद चलकर आए गणेश शंकर विद्यार्थी जी ने उनके पार्थिव शरीर पर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किए। पारसी शाह गेटोग्राफ़र से अमर शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ के शव का फ़ोटो खिंचवाया और अशफ़ाक़ ख़ाँ के परिजनों को यह हिदायत देकर कानपुर वापस चले गए कि शाहजहाँपुर में इनका पक्का मक़बरा ज़रूर बनवा देना। अगर रुपयों की क़सरत पड़े, तो पत्र लिख देना, मैं कानपुर से मनी आर्डर भेज दूँगा।

शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ की लाश को उनके पुश्तैनी मकान के सामने लाले बगीचे में दफ़ना दिया गया। उनकी मज़ार पर संगमरमर के पत्थर पर शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ की ही कही हुई ये पंक्तियाँ लिखवा दी गईं—

“ज़िन्दगी बादे-फ़ना तुझको मिलेगी ‘हसरत’,
तेरा जीना तेरे मरने की बदौलत होगा।”

अमर शहीद अशफ़ाकुल्लाह ख़ाँ यह पहले से ही जानते थे कि उनकी शहादत के बाद भारत में लिबरल पार्टी अर्थात् कांग्रेस ही पॉवर में आएगी और उन जैसे साधारण वर्ग के बलिदानियों की कोई चर्चा न होगी, केवल पासकों के स्मृति-लेख ही सुरक्षित रखे जाएँगे। तभी तो उन्होंने ये क़ता कहकर वर्तमान हालात की भविष्यवाणी बहुत पहले सन् 1927 में ही कर ली थी—

“जुबाने हाल से अशफ़ाक़ की तुर्बत ये कहती है,
मुहिब्बाने वतन ने क्यों हमें दिल से भुलाया है ?”
बहुत अफ़सोस होता है बड़ी तकलीफ़ होती है,
शहीद अशफ़ाक़ की तुर्बत है और धूपों का साया है।

(डॉ. मदन लाल वर्मा, क्रान्त, स्वाधीनता संग्राम के क्रान्तिकारी
साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृष्ठ-545)

मुस्लिम उलमा एवं योद्धा : जिन्होंने सरज़मीने-हिन्द को अपने ख़ूने-जिगर से सींच

■ संपादन प्रभाग

टीपू सुल्तान (1750 से 1799 ई.)

टीपू सुल्तान स्वतंत्रता संग्राम का वह महान योद्धा है जिसकी बहादुरी साहस और वीरता की मिसाल दी जाती है। टीपू सुल्तान का अस्ली नाम फ़तह अली ख़ाँ था। मैसूर सल्तनत के बानी सुल्तान हैदर अली ख़ाँ का बेटा था। 20 ज़िलहिज्जा सन 1163 हिजरी तदानुसार 11 नवम्बर 1750 ई. व देवन हल्ली (कोलार) में टीपू सुल्तान का जन्म हुआ। आधुनिक शिक्षा साथ-साथ उसने युद्ध-कला एवं राजनीति शास्त्र में भी महारत हासिल व ली।

7 नवम्बर 1782 ई. को जब सुल्तान हैदर अली ख़ाँ का इन्तिकाल गया तो टीपू सुल्तान ने मैसूर की सल्तनत सम्भाल ली। तख़्त पर बैठते उसे फ़िरंगियों से जंग करनी पड़ी। लेकिन टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों से कभी समझौता नहीं किया और लड़ते-लड़ते 4 मई 1799 ई. को श्रीरंगापट्टम मैदान में शहीद हो गए। इस महान योद्धा की खून में सनी हुई लाश देखकर लार्ड हॉर्स ने राहत की साँस ली और कहा कि “आज हिन्दुस्तान हमारा हो गया।”

शाह वलीउल्लाह देहलवी (1703-1762 ई.)

हुज्जतुल-इस्लाम शाह वली-उल्लाह देहलवी भारत के एक अज़ी मुहद्दिस, बेमिसाल मुफ़क्किर (विचारक) और इन्क़िलाब बरपा करनेवाला शख़्सियत थे। उनका उल्लेख किए बिना भारतीय इतिहास पूरा नहीं सकता। यह एक सच्चाई है कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में उसी के दम रौशनी फैली हुई है और उसी ख़ानवादा का फ़ज़्लो कमाल जारी है।

21 फ़रवरी 1703 ई. (4 शव्वाल 1114) हि. को मुज़फ़्फ़रनगर के त्त क़स्बे में आपका जन्म हुआ। आपने अपने पिता शाह अब्दुरहीम (जो रत के शहंशाह औरंगज़ेब आलमगीर के शासन काल के नामवर आलिम ज़रे हैं) से प्रारम्भिक शिक्षा हासिल की। 1143 हि. में वे हज के लिए मक्का अज़्ज़मा गए और 14 महीनों तक वहाँ उनका क्रियाम रहा। इस अवधि वे हरमैन शरीफ़ैन के फ़ाज़िल उस्तादों से फ़ैज़याब होते रहे। दिल्ली वापस ाने के बाद आप इस्लाम के प्रचार-प्रसार और इस्लामी शिक्षाओं पर ाधारित पुस्तकों के लेखन एवं संकलन में लग गए। आपने अल्लाह केूल (सल्ल.) की सुन्नत और हदीसे रसूल (सल्ल.) को बढ़ावा देने का मिसाल कारनामा अंजाम दिया।

21 अगस्त 1762 ई. (29 मुहर्म्म 1176 हि.) को दिल्ली में आप अपने लिके हक़ीक़ी से जा मिले। आपकी मृत्यु के बाद आपके चारों बेटों ने ापके मिशन को पूरा करने का बेड़ा उठाया, और किताबो-सुन्नत के काशन का लाजवाब कारनामा अंजाम दिया। शाह अब्दुल-अज़ीज़ (1746-1824 ई.), शाह रफ़ीउद्दीन (1750-1818 ई.), शाह अब्दुल-क्रादिर (1755-1815 ई.) और शाह अब्दुल-ग़नी (1757-1789 ई.) आपके ही बेटे और चारों देश की बड़ी इल्मी शख़्सियतें समझे जाते हैं।

शाह वली-उल्लाह देहलवी की लगभग 200 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जो ापकी इल्मी यादगार हैं।

शाह अब्दुल-अज़ीज़ (1746-1824 ई.)

शाह अब्दुल-अज़ीज़ शाह वली-उल्लाह देहलवी (रह.) के बड़े बेटे थे। ाप अपने समय के अहले इल्म के सरताज और तहरीक इस्लाहो जिहाद ा संस्थापक थे। 30 सितम्बर 1746 ई. (25 रमज़ानुल मुबारक सन् 1159 .) को दिल्ली में पैदा हुए। आपका तारीख़ी नाम 'गुलाम हलीम' था।

अपने पिता शाह वली-उल्लाह देहलवी, शाह मुहम्मद आशिक़ फुलती, ाह नूरुल्लाह बुढ़ानवी और ख़ाजा मुहम्मद अमीन काश्मीरी से 15 वर्षों तक ाक्षा ग्रहण करते रहे। तदुपश्चात् पठन-पाठन का काम शुरू किया।

16 वर्ष के थे कि 1762 ई. में पिता की मृत्यु हो गई। आप अपने पिता के उत्तराधिकारी घोषित हुए और अपने पिता के उन कारनामों को बढ़ाया जिसे उनके पिता अधूरा छोड़ गए थे। जीवन के हर क्षेत्र में आप सेवाएँ बेमिसाल रहीं।

इस्लाम का प्रचार-प्रसार, कुरआन की तर्वीज, हदीसे रसूल (सल्ल.) प्रकाशन, भटके हुए लोगों की इस्लाह, तहरीके-जिहाद और स्वतंत्रता संग्राम की शुरुआत आदि आपके कारनामों की सूची में शामिल हैं।

6 मई 1824 ई. (7 शव्वाल 1239 हि.) को आप अपने मालिके-हक्री से जा मिले और दिल्ली के मेंहदियान में दफन किए गए। आपकी मृत्यु समय आपका हलक़ा इतना बढ़ चुका था कि भारत में कोई इल्मी हल ऐसा नहीं था कि जिसका ताल्लुक आपके इल्मी मर्कज़ से न हो।

मौलाना सिंधी ने लिखा है कि एक आलिम ने केवल इसलिए पूरे देश का भ्रमण किया कि उसे हदीस का कोई ऐसा उस्ताद मिले जो इमाम अब्दु अज़ीज़ का शागिर्द न हो, परन्तु पूरे देश में उसे एक भी उस्ताद नहीं मिल

नवाब अमीर ख़ाँ (1768-1834 ई.)

नवाब अमीर ख़ाँ टोंक रियासत के संस्थापक और हाकिम थे। पिता नाम मुहम्मद हयात ख़ाँ और दादा का नाम ताले मुहम्मद ख़ाँ था। त मुहम्मद ख़ाँ मुग़ल बादशाह मुहम्मद शाह के दौर में सरहद से रुहेलखण्ड इलाक़े में आया।

अमीर ख़ाँ का जन्म 1768 ई. (1182 हि.) में संभल (ज़िला मुरादाबाद) में हुआ। अमीर ख़ाँ बहुत ही बेबाक, निडर और बहादुर थे। उन्होंने मर सरदार जसवंत राव होल्कर के साथ मिलकर अनेक मुहिमों में कामयाब हासिल की। सन् 1817 ई. तक वे अंग्रेज़ों के विरोधी रहे। अनेकों मुक़ाबले किए और अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ाए।

लेकिन 6 जनवरी 1818 ई. को अंग्रेज़ों के साथ मजबूरी में उन्हें संधि करनी पड़ी। इस संधि के अनुसार अमीर ख़ाँ को टोंक रियासत का हुकूमत मान लिया गया। इस संधि से पहले सैयद अहमद शहीद सात वर्षों तक

पकी सेना में रहे। 3 सितम्बर 1834 ई. को अमीर ख़ाँ की मृत्यु हो गई।

यद अहमद शहीद (1786-1831 ई.)

सैयद अहमद-बिन-सैयद मुहम्मद इरफ़ान, वह महान सुधारक और जाहिद हैं, जिन्होंने जुल्म के घटाटोप अन्धेरे में भारत को जिहाद की स्पिरिट अवगत कराया। जिहाद का झण्डा बुलन्द किया और पूरे देश में ऐसा नी इन्क़िलाब बरपा कर दिया जिसकी मिसाल सदियों के इतिहास में नहीं लती।

कहते हैं कि चालीस हजार से अधिक लोग आपके हाथ पर इस्लाम में आए और तीस लाख मुसलमानों ने आपके हाथ पर बैअत की।

28 नवम्बर 1786 ई. (6 सफ़र 1201 हि.) को तकिया शाह इल्मुल्लाह राय-बरेली के मशहूर हस्नी ख़ानवादा में पैदा हुए। जिहाद का शौक, शादत का जौक और समाज सेवा की भावना आपकी घुट्टी में पड़ी थी। रू में पढ़ाई में दिल नहीं लगता था। जब थोड़ा बड़े हुए तो दिल्ली आकर नवादा-ए-वलीउल्लाह में शिक्षा-दीक्षा हासिल की। फिर हज़रत शाह अब्दुल-अज़ीज़ से बैअत होकर ख़िलाफ़त से सरफ़राज़ हुए।

सात साल तक वाली-ए-टोंक अमीर ख़ाँ की सेना में रहकर प्रशिक्षण सिल किया। वहीं जिहाद की तरबियत हासिल की। फिर दिल्ली आकर भूत व इरशाद का सिलसिला शुरू किया। इसके बाद दो-आबा का इस्लाही रा किया। सन् 1822 ई. में आठ सौ रफ़ीकों के साथ हज के लिए रवाना हुए।

17 जनवरी 1826 ई. को 500 मुजाहिदों के साथ सिर पर कफ़न बन्धकर जिहाद का सफ़र शुरू किया। भारत के विभिन्न इलाकों से जाहिदीन के क्राफ़िले पहुँचने लगे। एक समय ऐसा भी आया कि जाहिदीन की संख्या बढ़कर एक लाख तक पहुँच गई। अनेकों बार झड़पें हुई जिसमें इस्लाम के जाँबाज़ मुजाहिदीन ने इस्लाम के जौहर दिखाए। अन्त में 6 मई 1831 को अपने 300 साथियों समेत बालाकांट में शहीद हो गए।

शाह इसमाईल शहीद (1779-1831 ई०)

शाह इसमाईल शहीद शाह वली-उल्लाह देहलवी के खानवादा ताल्लुक रखते हैं। आप एक जय्यद आलिम और सैयद अहमद शहीद व तहरीक के एक बुनियादी रुक्न थे।

शाह वली-उल्लाह (रह०) के बेटे शाह अब्दुल-गनी मुहद्दिस देहलवी व घर में 1779 ई. (1193 हि.) आपका जन्म हुआ। आरम्भिक शिक्षा अप पिता से ही ली। दस वर्ष के हुए तो पिता की मृत्यु हो गई। पिता की मृत के बाद शाह अब्दुल-कादिर (रह०) ने उनकी तालीम व तरबियत व जिम्मेदारी ली।

शाह इसमाईल ने शाह अब्दुल-अजीज़ से हदीस की सनद हासिल की फिर सैयद अहमद शहीद के हाथ पर बैअ्त करके जिन्दगी भर के लि उनके दामन से वाबिस्ता हो गए।

सैयद अहमद शहीद जहाँ जाते आप भी साथ जाते और आप ही व साथ 6 मई 1831 ई. को बालाकोट में शहादत का जाम पिया। शहादत व समय आपका एक बेटा था, जिसका नाम शाह मुहम्मद उमर था।

नवाब सिराजुद्दौला (1736-1757 ई०)

नवाब सिराजुद्दौला बंगाल का वह जाँबाज़ सपूत है, जिसने सबसे पहल फ़िरंगी सेना से युद्ध किया। नवाब सिराजुद्दौला का अस्ल नाम मिर्ज़ा मुहम्म था और नवाब अली वर्दी का नवासा था।

9 रजब सन 1169 हिजरी (10 अप्रैल 1756 ई.) को नवाब अली वर्दी का इन्तिकाल हुआ। उनकी मृत्यु के बाद मिर्ज़ा मुहम्मद अपने नाना व उत्तराधिकारी बना और नवाब सिराजुद्दौला के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नवाब सिराजुद्दौला को अंग्रेज़ों से बड़ी नफ़रत थी। उसने ईस्ट इण्डिय कम्पनी के किले और फ़ैक्ट्री पर क़ब्ज़ा कर लिया और कलकत्ता में अंग्रेज़ के लिए जिन्दगी तंग कर दी। 23 जून 1757 ई. को पलासी के मैदान : अंग्रेज़ों से जंग हुई। मीर जाफ़र जैसे ग़द्दारों के कारण उसे पराजय का मुँ

खना पड़ा। पराजित होने के बाद नवाब सिराजुद्दौला वहाँ से फ़रार हो गया रन्तु ग़दरों की मदद से जल्द ही गिरफ़्तार हो गया और 2 जुलाई 1757 को बर-सरेआम उनकी हत्या कर दी गई।

मौलाना मुहम्मद-बिन-क्रासिम पानीपती

मौलाना मुहम्मद-बिन-क्रासिम पानीपती (रह.) बड़े ही मुख़्लिस मुजाहिदे-जज़ादी थे और सैयद अहमद शहीद की तहरीके-जिहाद के एक अहम दस्य थे। सरहद से सैयद साहब ने जिन लोगों को देश के विभिन्न भागों इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था, उनमें आप भी शामिल थे। आपको बम्बई भेजा गया था। बालाकोट के बाद आपके नेतृत्व में ही चे-खुचे लोग अस्थाना पहुँचे थे।

आपकी मृत्यु के बारे में मौलाना गुलाम रसूल मेहू ने तीन रिवायतें ल्लेख की हैं। (1) मौलवी नसीरुद्दीन के साथ लड़ते हुए शहीद हुए। (2) ख़ की समाप्ति के बाद 54 आदमियों को लेकर हसन अली ख़ाँ के पास हुँचे और वहीं रहते हुए उनकी मौत हुई। (3) 1853 ई. में अंग्रेज़ों ने उन्हें रफ़्तार कर लिया और सियालकोट में कैद कर लिया, कैद में ही उनकी त्यु हो गई।

हादुर शाह ज़फ़र (1775-1862 ई.)

अबू-ज़फ़र सिराजुद्दीन मुहम्मद बहादुर शाह ज़फ़र मुग़ल सल्तनत का अख़िरी शहंशाह था। 30 अक्टूबर 1775 ई. को लाल क़िला में एक हिन्दू नी की कोख से जन्म लिया। हाफ़िज़ मुहम्मद इबराहीम और क़ारी मुहम्मद शलील आदि उस्तादों से क़ुरआन करीम और इस्लामी शिक्षाएँ हासिल कीं। यद जलालुद्दीन हैदर और मीर इबराहीम अली से पढ़ना लिखना और क़ताबत सीखी। इसके अलावा तीरअन्दाज़ी, तलवारबाज़ी, निशानाबाज़ी और घुड़सवारी में भी महारथ हासिल की।

बहादुर शाह ज़फ़र को शेरों-शायरी से बहुत लगाव था। ज़फ़र तख़ल्लुस में शायरी में जौक़, ग़ालिब और शाह नसीर आदि से ख़ूब छनती थी।

28 सितम्बर 1837 ई. में अकबर शाह सानी की मृत्यु के बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठे। सन् 1857 ई. का स्वतंत्रता संग्राम आपकी ही कमान में लड़ा गया। स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों की जीत हुई। 21 सितम्बर 1857 ई. को हुमायूँ के मक़बरे के पास से बहादुर शाह को गिरफ्तार कर लिया गया। शहज़ादों की तो हत्या कर दी गई, लेकिन इनके खिलाफ़ बगावत का मुक़दमा चलाया गया।

27 जनवरी 1858 ई. को मुक़दमे की कार्रवाई शुरू हुई। 9 मार्च 1858 ई. को फ़ैसला सुनाया गया। आपको जलावतन करके मलिका ज़ीनत महल और बेटे जवान बख़्त के साथ रंगून भेज दिया गया।

600 रुपए महीना वज़ीफ़ा सुनिश्चित किया गया, जिसे बहादुर शाह लेने से इनकार कर दिया और शेष चार साल बहुत ही तंगदस्ती में गुज़ारे। 7 नवम्बर 1862 ई. को अपने मालिके-हक़ीक़ी से जा मिले।

कितना था बदनसीब ज़फ़र दफ़न के लिए
दो गज़ ज़मीं भी न मिली कूएँ यार में।

मौलाना मुहम्मद क़ासिम नानौतवी (रह.) (1832-1880 ई.)

मौलाना मुहम्मद क़ासिम नानौतवी (रह.) की शख़्सियत किसी परिचय की मुहताज नहीं। भारतीय मुसलमानों के इतिहास में आपका नाम बहुत ऊपर आता है। आप अपने समय के महान आलिमे-दीन, देवबन्द वे सरबराह और अरबाबे-फ़ज़ल व कमाल के मुसल्लमा इमाम थे।

आप का जन्म 1832 ई. (1248 हि.) में सहारनपुर ज़िले के नानोत क़स्बे में हुआ। आपका तारीख़ी नाम खुर्शीद हसन है। प्रारम्भिक शिक्षा मौलाना महताब अली देवबन्दी और मौलवी मुहम्मद नवाज़ सहारनपुरी से हासिल की। सन् 1844 ई. में दिल्ली आए और मौलाना ममलूक अर्ल नानौतवी और मुफ़्ती सदरुद्दीन देहलवी से शिक्षा प्राप्त की।

मौलाना शाह अब्दुल-ग़नी मुजद्दिदी और मौलाना अहमद अली मुहद्दिस सहारनपुरी से हदीस का दर्स लिया। सैयदुत ताइफ़ा हाजी इम्दादुल्लाह

हाजिर मक्की के हाथ पर बैअ्त और ख़िलाफ़त से सरफ़राज़ हुए। आपके क्ला-ए-दर्स से फ़ैज़याब होने वालों में शैख़ुल-हदीस मौलाना महमूद हसन, लाना अहमद हसन मुहद्दिस अमरोहवी, मौलाना फ़ख़रुल-हसन गंगोही, लाना अब्दुल-अली मेरठी जैसे लोग शामिल हैं।

1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम में आपने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और मली के निकट अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ जो मोर्चा बना था, उसका नेतृत्व लाना मुहम्मद क़ासिम नानौतवी ने ही किया था। युद्ध में अंग्रेज़ों की जीत गई और मौलाना के ख़िलाफ़ गिरफ़्तारी का वारन्ट जारी कर दिया गया। नाम की घोषणा भी की गई, मगर ब्रिटिश पुलिस अपनी तमाम तर कोशिशों बावजूद उन्हें गिरफ़्तार न कर सकी। दो वर्षों तक इसी तरह देहातों और हरो में गुज़ारे। 1867 और 1876 ई. में दूसरी और तीसरी बार हज़ किया।

मौलाना नानौतवी एक कुशल सम्पादक भी थे। रोज़गार के सिलसिले में कई प्रकाशकों की पुस्तकों का सम्पादन किया करते थे। पठन-पाठन का लसिला भी चलता रहा था। ईसाइयों और आर्यसमाजियों के साथ मुनाज़रे किया करते थे। इस्लाम के ख़िलाफ़ उठनेवाले कई फ़िल्नों की रोकथाम की।

1283 हिजरी में दारुल-उलूम देवबन्द, मदरसा मम्बउल-उलूम गुलावठी, दरसा शाही मुरादाबाद, मदरसा क़ासिमिया नगीना और दूसरे मदरसे कायम हुए। उनकी सरपरस्ती में हज़ारों इस्लाम के दाई, मुबल्लिग़, गाज़ी और जाहिद तैयार हुए। उर्दू और फ़ारसी में शायरी भी करते थे। अधिकांश शायरी हम्द व नाअ्त की शक़ल में होती थी। आबे-हयात, हुज्जतुल-इस्लाम, क़रीरे-दिलपज़ीर, तस्फ़ीयतुल-अक्काइद, इन्तसारुल-इस्लाम, आदि आपकी ज़मी रचनाएँ हैं।

15 अप्रैल 1880 ई. को आप अपने मालिके-हक़ीकी से जा मिले।

मौलाना फ़रीदुद्दीन देहलवी (शहादत-1857 ई.)

मौलाना फ़रीदुद्दीन अपने समय के जाने-माने आलिम और दिल्ली के ही धर्मोपदेशक थे। आपको बहादुर शाह ज़फ़र ने जामा मस्जिद में वाज़

और नसीहत के लिए मनोनीत किया था। मौलाना फ़रीदुद्दीन दिल्ली में हँ पले-बढ़े। मौलाना करीमुल्लाह देहलवी और शेख़ शेर मुहम्मद क़न्धारवं आदि से शिक्षा हासिल की और शेख़ हाजी मुहम्मद क़ासिम से हदीस क़ तालीम हासिल की। शैख़ अब्दुल-अज़ीज़ इलाही बख़्श देहलवी के हाथ प बैअत हुए और एक अरसे तक आपकी सेवा में रहे। शैख़ ने अपनी बेटी क़ निकाह भी आप से कर दिया।

आप ने 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया। जिहाद के फ़तव़ पर आपने भी आलिमों के साथ हस्ताक्षर किए। जंगे आज़ादी की नाकाम के बाद एक दिन अंग्रेज़ी सेना आपके घर में घुस गई और आपको शही कर डाला। आपने कई किताबें भी लिखी हैं। 'सैफ़ुल-मस्तूल अला म अंक-र-सिर्र क़दमिर्रुसुलि' आपकी मशहूर किताब है। आप के बेटे शा मुहम्मद उमर ख़ादंजी भी दिल्ली के मशहूर बुजुर्ग़ थे। फ़राशख़ाना अरववन्दजी गली उसी परिवार के नाम से मशहूर हैं।

मौलाना किफ़ायत अली काफ़ी शहीद (शहादत-1858 ई.)

मौलाना किफ़ायत अली काफ़ी ख़ानवादा-ए-सालत के एक मुम्ता रुक्न, आलिम, फ़ाज़िल, तबीब (हकीम) और शायर थे। 'काफ़ी' तख़ल्लुस था। मुरादाबाद के रहनेवाले थे। हज़रत शाह अबू-सईद मुजद्दिदी से हदीस का इल्म हासिल किया। उन्हें हदीसे-रसूल (सल्ल.) से काफ़ी लगाव था सीरते-रसूल से आपको इश्क़ था। इसी इश्क़ की भावना को वे अपनी शायर में बयान किया करते थे।

बस आरजू यही दिले-हसरतज़दा की है

सुनता रहे शमाइले-अहवाले-मुस्तफ़ा

आप ने कई किताबें भी लिखी हैं और सभी किताबें हदीस और सीरते रसूल पर हैं। 'अहादीसे-फ़िरदौस' इनकी मशहूर किताब है।

1857 ई. की जंगे-आज़ादी में आपने खुलकर हिस्सा लिया। नवा मुजद्दिदीन उर्फ़ नवाब मज्जू ख़ाँ की आज़ाद हुकूमत में आप सदरुश शरीअत थे। जब मुरादाबाद पर नवाब रामपुर का वर्चस्व कायम हुआ त

अंग्रेजों के खिलाफ़ जिहाद का एक फ़तवा जारी किया गया। इस फ़तवा को सरी जगहों पर भी पहुँचाया गया।

25 अप्रैल 1858 ई. को मुरादाबाद पर दोबारा अंग्रेजों का क़ब्ज़ा हो या। 30 अप्रैल 1858 ई. को (16 रमज़ानुल-मुबारक 1274 हि.) आपको ग़ेरफ़्तार करके फाँसी पर लटका दिया गया।

जिस समय आपको फाँसी के लिए ले जाया जा रहा था, तो आप इश्के-सूल (सल्ल.) में डूबे हुए उच्च स्वर में एक नज़्म पढ़ रहे थे। बोल थे—

“कोई गुल बाक़ी रहेगा,
न चमन रह जाएगा,
पर रसूलुल्लाह का
दीने-हसन रह जाएगा।

मौलाना काफ़ी मरहूम को मुरादाबाद जेल के बाहर इकट्ठी भीड़ के सामने फाँसी दी गई और फिर उन्हें उसी स्थान पर दफ़न कर दिया गया।

शैख़ुल-हिन्द मौलाना महमूद हसन देवबन्दी (1851-1920 ई.)

शैख़ुल-हिन्द मौलाना महमूद हसन देवबन्दी (रह.) एक अज़ीम मुहद्दिस, ग़मिसाल मुफ़र्रिसर, बुलन्द पाया आलिम, मुदब्बिर, क़ाइद, आज़ादी व इन्क़िलाबी तहरीक के इमाम थे। निस्सन्देह आपका शुमार चौदहवीं सदी हेजरी के सबसे अज़ीम इनसान के रूप में होता है।

आपका जन्म 1851 ई. में बरेली में हुआ था। आपके पिता मौलाना गुलफ़िक़ार अली नौकरी के सिलसिले में बरेली में ही रहते थे। देवबन्द आपका असूली वतन था। शुरुआती लालन-पालन देवबन्द में ही हुआ। शुरू में आपने एक दीनदार बुजुर्ग़ मियाँजी मंगलौरी से शिक्षा हासिल की और अरबी की तालीम अपने चचा मौलाना महताब अली देवबन्दी से हासिल की।

1867 ई. में दारुल-उलूम देवबन्द क़ायम किया गया और आप उसके पहले बैच में शामिल हुए। उस्ताद मुल्ला महमूद देवबन्दी व अन्य उस्तादों ने शिक्षा हासिल की।

हदीस पाक और अन्य विषय मेरठ में रहकर हुज्जतुल-इस्लाम मौलाना मुहम्मद कासिम नानौतवी से पढ़ा। कुछ किताबें अपने पिता से भी पढ़ीं। 1873 ई. में फ़ारिग़ होकर मौलाना नानौतवी के हाथ से दस्तारे फ़ज़ीलत हासिल की। 1874 ई. में दारुल-उलूम में मुदरिस नियुक्त हुए और 1890 ई. में सदारते-तदरीस के पद पर आसीन हुए और मरते दम तक इसी पद पर बने रहे।

आपके दौरे सदारत में 890 छात्रों ने दौरे-हदीस को पूरा किया। आपने शागिर्दों में मौलाना अशरफ़ अली थानवी, अल्लामा अनवर शाह कश्मीरी मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी, मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मुफ़्ती किफ़ायतुल्लाह जैसी शख़्सियत शामिल हैं।

सलूक व मारिफ़त की तहसील हज़रत हाजी इम्दादुल्लाह मुहाजिर मक्क़ और कुत्बे-इरशाद हज़रत मौलाना रशीद अहमद गंगोही से की और दोनों तरफ़ से इजाज़ते-बैअत व ख़िलाफ़त हासिल हुई।

आज़ादी की लड़ाई में आपकी ख़िदमत और कारनामे बेमिसाल हैं। आपने एक लम्बी अवधि तक आज़ादी के लिए संघर्ष उस समय शुरू किया जब इंडियन नेशनल कांग्रेस का अस्तित्व भी नहीं था। 1878 ई. में आपने 'अंजुमन तमरतुत्तरतीब' कायम करके आज़ादी के लिए संघर्ष शुरू किया था। 1909 ई. में जमीअतुल-अंसार, 1913 में नज़ारतुल-मआरिफ़ अल-कुरआनिया और 1916 ई. में तहरीक रेशमी रूमाल के नाम से आपका इन्क़िलाबी सरगर्मियाँ जाहिर हुईं।

अंग्रेज़ों से देश को ख़ाली करने की ऐसी सुनियोजित योजना बनाई गई थी कि यदि वह सफल हो गई होती तो सम्भवतः पूरी दुनिया से अंग्रेज़ों का वर्चस्व समाप्त हो जाता। आपके इस आन्दोलन का फैलाव हिन्दुस्तान से रूस, जर्मनी, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान और बिलादे-अरब तक फैला हुआ था मगर अफ़सोस कि समय से पहले ही राज़ फ़ाश हो गया और आज़ादी के मतवाले सलाखों के अन्दर बन्द कर दिए गए।

मौलाना महमूद हसन को भी अपने चार रफ़ीकों के साथ मक्का-मुअज़्ज़म

में गिरफ्तार किया गया और मिस्र और माल्टा के जेलों में बन्द रखा गया। तीन साल जेल में रहने के बाद जून 1920 ई. को वे भारत लाए गए और 30 नवम्बर 1920 ई. को लम्बी बीमारी के बाद आपका इन्तिकाल हो गया।

मौलाना अबैदुल्लाह सिन्धी (1872-1944 ई.)

शैखुल-हिन्द मौलाना अबैदुल्लाह सिन्धी 'आज़ाद हिन्द सरकार' के संस्थापक और इन्क़िलाबी तहरीक के हीरो थे। आज़ादी हासिल करने के लिए 24 वर्षों तक लगातार एक देश से दूसरे देश की खाक छानते रहे।

मौलाना 12 मार्च 1873 ई. को सियालकोट (पंजाब) के एक सिक्ख घराने में पैदा हुए। स्कूल में ही थे कि इस्लाम का अध्ययन शुरू कर दिया। तोहफ़तुल-हिन्द और तक्रवीयतुल-ईमान आदि पुस्तकों के अध्ययन से इस्लाम की हक़क़ानियत उनके सामने वाज़ेह हो गई और अपना घर-बार छोड़कर कोटला रहम शाह पहुँच गए।

15 अगस्त 1887 ई. को इस्लाम क़बूल करने का एलान कर दिया। कुछ महीने तक क़ादरिया सिलसिले के मशहूर बुजुर्ग हाफ़िज़ मुहम्मद सिदीक़ भरचोंदी के साथ रहे, जिससे इस्लाम की बरकत उनकी नज़र में वाज़ेह हो गई। कोटला रहम शाह और दीनपुर में विभिन्न शिक्षकों से अरबी भाषा की शिक्षा ली और उच्च शिक्षा के लिए देवबन्द पहुँच गए। वहाँ आप ने हज़रत गंगोही (रह.) से हदीस का दर्स लिया।

फ़ारिग़ होने के बाद शैखुल-हिन्द ने आपको अपनी तहरीक और मिशन का राज़दार बना लिया और सदस्य बनाकर सिंध भेज दिया, जहाँ आप पठन-पाठन और अन्य दीनी व इल्मी गतिविधियों के अलावा तहरीक के काम को भी आगे बढ़ाने लगे।

1909 ई. में आप देवबन्द वापस आ गए और जमीअतुल-इस्लाम की ज़िम्मेदारी सम्भाल ली। सन् 1913 ई. में आप दिल्ली आए और नज़ारतुल-मआरिफ़ अल-क़ुरआनिया की ज़िम्मेदारी सम्भाली। सन् 1914 ई. में विश्व युद्ध के शोले भड़क उठे और आप शैखुल-हिन्द के आदेश पर काबुल गए और फ़िरंगी हुकूमतों के खिलाफ़ इस्लामी सल्लतनों को एक-जुट करने की

कोशिश की और आज़ाद हिन्द हुकूमत की बुनियाद डाली और इस सिलसिले में विभिन्न देशों का दौरा किया। भारत को आज़ाद कराने के लिए आ मास्को तक गए।

लेकिन शैखुल-हिन्द की आज़ादी की तहरीक नाकाम हो गई और आ के लिए देश निकाला का आदेश जारी कर दिया गया। देश में जिन लोग को गिरफ्तार किया गया था, उन्हें तो कुछ वर्षों में छोड़ दिया गया लेकिन आपका जलावतनी का आदेश समाप्त नहीं हुआ।

1937 में आपकी पाबन्दी हटाई गई और 24 साल बाद आपने अपना देश की सरज़मीन पर क़दम रखा। कुछ दिन दिल्ली में रहे फिर लाहौर च गए। 2 अगस्त 1944 को आपका इन्तिक़ाल हुआ।

मौलाना सैयद हुसैन अहमद मदनी (1879-1957 ई.)

शैखुल-इस्लाम मौलाना सैयद हुसैन अहमद मदनी का जन्म 1879 ई. को बांगर मऊ, ज़िला उन्नाव में हुआ। आपके पिता सैयद हबीबुल्ला नौकरी के सिलसिले में फ़ैज़ाबाद में ही रहते थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा वहीं हुई। दर्से-निज़ामी की शिक्षा हज़रत शैखुल-हिन्द मौलाना महमूद हस देवबन्दी की निगरानी में देवबन्द में हुई। वहाँ आप लगातार सात वर्षों तक रहे। आध्यात्मिक शिक्षा हज़रत मौलाना रशीद अहमद गंगोही की सोहबत प्राप्त की।

सन् 1316 हि. में आपके पिता परिवार के सभी सदस्यों के साथ मदीना मुन्व्वरा तशरीफ़ ले गए। आप भी उनके साथ रहे और सन् 1335 हि. तक यानी लगातार 18 वर्षों तक वहाँ रहने का अवसर मिला। इस बीच वे केवल चार बार भारत आए और कुछ महीनों तक ही भारत में रहे। फिर 1335 हि. में हज़रत शैखुल-हिन्द (रह.) के साथ माल्टा, अमरोहा, कलकत्ता और सिल्ल का दौरा किया और पठन-पाठन में लगे रहे और शैखुल-हदीस के पद पर रहकर अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते रहे।

इस अवधि में 3,826 छात्रों ने दौरे-हदीस पूरा किया और 167 लोगों आपके हाथ पर बैअत की और ख़िलाफ़त से सरफ़राज़ हुए। सैकड़ों लोग

आपके हाथ पर इस्लाम क़बूल किया। आपने देश भर में सैकड़ों मदरसे तयम किए और उनकी सरपरस्ती फ़रमाई।

भारत की आज़ादी की तहरीक में बहुत ही सक्रिय भूमिका निभाई और शमी रूमाल आन्दोलन का नेतृत्व किया। जमीअत उलमा-ए-हिन्द की भी अनेक ज़िम्मेदारियाँ सम्भालीं।

शैख़ुल-हिन्द (रह.) के इन्तिक़ाल के बाद मिल्ली क्रियादत की ज़िम्मेदारी तो निभाई और उनके मिशन को पूरा किया।

मौलाना सैयद हुसैन अहमद मदनी साहब देश की आज़ादी के लिए चार बार जेल भी गए और कैदोबन्द की आजमाइशें भी बरदाश्त कीं। आप कुल मिलाकर सात साल सलाखों के पीछे रहे।

1923 ई. में जमीअत उलमा-ए-हिन्द की कार्यकारिणी समिति के सदस्य बने। 1940 ई. में आपको सदर चुन लिया गया और 1940 ई. से 5 दिसम्बर 1957 ई. तक यानी जब तक वे ज़िन्दा रहे जमीअत उलमा-ए-हिन्द का नेतृत्व करते रहे और 5 दिसम्बर 1957 को इल्मो अमल और जुहूदो-तक्वा ज़य यह आफ़ताब देवबन्द में गुरुब हो गया।

मौलाना मुहम्मद अली जौहर (1878-1931 ई.)

मुहम्मद अली जौहर भारत के उस महान व्यक्तित्व का नाम है, जो अंग्रेज़ी का ज़बरदस्त लेखक, उर्दू का मशहूर शायर, आग उगलनेवाला वक्ता, परिपक्व राजनीतिज्ञ, और आज़ादी की लड़ाई का अलमबरदार था।

मुहम्मद अली जौहर का जन्म 10 दिसम्बर 1878 ई. को रामपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा बरेली हाई स्कूल में हुई। उच्च शिक्षा के लिए पहले अलीगढ़ विश्वविद्यालय और फिर ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी गए।

मौलाना अब्दुल-बारी फ़िरंगी महली से शर्फ़े इरादत हासिल की। मदरसा नेज़ामिया से 'मौलाना' की एज़ाज़ी डिग्री हासिल की और 'मिस्टर' की जगह 'मौलाना' के नाम से मशहूर हुए।

आप जंगे-आज़ादी के महान योद्धा एवं मुजाहिद थे। स्वतंत्रता संग्राम में

आप की सेवाओं की कोई दूसरी मिसाल नहीं। आप ने अंग्रेजी साप्ताहिक 'कामरेड' और उर्दू दैनिक 'हमदर्द' के ज़रिए आज़ादी के आन्दोलन में परवान चढ़ाया। कराची के मशहूर मुकदमा के अस्ली हीरो आप ही थे।

मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद (1888-1958 ई०)

इमामुल-हिन्द मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद भारत के एक महान सपू जंगे-आज़ादी के सिपहसालार और एक अह्दे-आफ़रीं इनसान थे। अगस्त 1888 ई० को मक्का मुअज़्जमा में पैदा हुए। पिता का नाम खैरुद्दीन था। जो एक जय्यद आलिम और बाअमल सूफ़ी थे। कलकत्ता में पले-बढ़े। घर पर ही तालीम हासिल की। कला और संस्कृति पर गहरी नज़र थी। उसी के साथ उनके बयानों और तक्ररीरों में जादू था।

आपने अपनी जुबान और कलम से हज़ारों-लाखों सीनों में देश में आज़ादी की ज्वाला भड़काई। आपके अख़बार 'अल-हिलाल' ने देश के कोने-कोने में आज़ादी का बिगुल बजाया।

1915 ई० में आपकी राजनीतिक गतिविधियों के कारण बंगाल में हुकूमत ने आपको जलावतन करके राँची में नज़रबन्द कर दिया। उसके बाद भी आज़ादी की लड़ाई के सिलसिले में बार-बार गिरफ़्तार होते रहे। आप लगभग 16 वर्ष सलाखों के पीछे बिताए।

आप शुरू ही से जमीअत उलमा-ए-हिन्द की वर्किंग कमेटी के सदस्य रहे। लाहौर के इजलासे-आम (1921 ई०) और कराची के इजलासे-आम (1931 ई०) में कांग्रेस पार्टी ऑफ़ इण्डिया के अध्यक्ष रहे। आज़ादी से पहले सात वर्षों तक कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। आप ही के नेतृत्व में 'अंग्रेज़ों भागो' (Quit India Movement 1942) आन्दोलन चलाया गया। आज़ादी के बाद आप देश के पहले शिक्षा मंत्री बने।

आपकी इल्मी, सियासी, अदबी और सहाफ़ती सेवाओं पर इतना लिखा जा चुका है कि यदि उसे एक जगह इकट्ठा कर दिया जाए तो वह पुस्तकालय भर जाएंगे। सन् 1958 ई० में आपका इन्तिक़ाल हो गया।

लाना बरकतुल्लाह भोपाली (1862-1927 ई.)

मौलाना बरकतुल्लाह भोपाली आज़ादी की लड़ाई के अज़ीम मुजाहिद, ज़मते-मुवक्क़ता के वज़ीरे-आज़म, ग़दर पार्टी के संस्थापक, और शैखुल-द द्वारा चलाई गई तहरीक के जाँबाज़ सिपाही थे। 1862 ई. में भोपाल पैदा हुए। पिता का नाम मौलवी शुजाअतुल्लाह ख़ाँ था। मदरसा इमनिय्या भोपाल में शिक्षा प्राप्त की। 1878 ई. में कैरियर की शुरुआत न-पाठन से की। कुछ दिनों तक बम्बई में रहकर अंग्रेज़ी की शिक्षा प्राप्त की। 1890 ई. में इंग्लैंड तशरीफ़ ले गए। वहीं से उनपर देश को आज़ाद करने की धुन सवार हुई। इस सिलसिले में उन्होंने कई देशों का दौरा किया। अफ़्रीका और एशिया का चप्पा-चप्पा छान मारा। लन्दन, अमेरिका, तुर्की, फ़्रांस, जर्मनी, डेनमार्क, जापान, रूस, अफ़ग़ानिस्तान और अरब देशों का छत्तीस ज़ों तक लगातार चक्कर लगाया। आपकी ज़िन्दगी का अधिकांश हिस्सा क़लाबी कोशिशों में गुज़रा। 27 सितम्बर 1927 ई. को अपने मालिके-रीकी से जा मिले। ❁

मुफ़्ती किफ़ायतुल्लाह (1875-1952 ई.)

आप भारत के मुफ़्ती-ए-आज़म और आज़ादी के मतवालों के सिपहसालार। आप एक ही समय में मुहद्दिस, मुफ़क्किर, फ़क़ीह, अदीब, शायर, ग़ेतज़, राजनीतिज्ञ और मुजाहिद सब कुछ थे।

आप शाहजहाँपुर के एक ग़रीब परिवार में पैदा हुए। प्रारम्भिक शिक्षा मदरसा एजाज़िया, शाहजहाँपुर में हुई। उसके बाद दो साल ज़ामिआ अमरसमिया, मुरादाबाद और फिर तीन साल दारुल-उलूम देवबन्द में शिक्षा प्राप्त की।

22 वर्ष की आयु में ग़रीब परिवार का यह चिराग़ शैखुल-हिन्द के साथ ग़या गया और अपनी खुदादाद सलाहियतों के कारण जल्द ही ऐसी हैसियत क़ेसल कर ली, जो शायद ही किसी को नसीब होती है। शरीअत का कोई ग़ा क्षेत्र नहीं, जिसमें आपने अपने इल्म का सिक्का न बिठा लिया।

हज़रत गंगोही (रह.) के दस्ते-मुबारक पर बैअत होकर सुलूक व मारिफ़त

की तकमील की। फ़ारिग़ होने के बाद लगभग 5 सालों तक मदरसा ऐन् आम, शाहजहाँपुर में इफ़ता का दर्स दिया और फिर मदरसा अमीनिया दि में सदर मुदर्रिस व मुफ़ती के पद की जिम्मेदारी सम्भाली। मदरसा संस्थापक मौलाना अमीनुद्दीन के इन्तिक़ाल के बाद आपने ही मुहत्तमिम जिम्मेदारी सम्भाल ली और फिर जब तक जिन्दा रहे अपनी जिम्मेद निभाते रहे। आपने लगभग 55 वर्षों तक यह जिम्मेदारी सम्भाली। आ शगिर्दों में मौलाना एजाज़ अली, मुफ़ती मेहदी हसन और मौलाना अह सईद जैसी शख़्स्वयत शामिल हैं।

पठन-पाठन के अलावा आपने मिल्ली क़ौमी और सियासी तहरीकों में महती भूमिका निभाई। तहरीके-शैख़ुल-हिन्द में हिस्सा लिया। 1917 ई. आपने 'अंजुमन इआनत नज़रबन्दाने-इस्लाम' क़ायम की। जमी उलमा-ए-हिन्द की स्थापना में भी आपकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। 20 तक आप जमीअत के सदर रहे। आपके सदर रहते जमीअत उलमा-ए-दि ने भारत की आज़ादी के लिए जो सेवाएँ प्रदान की हैं, उन्हें भुलाया नहीं सकता। स्वयं आप भी इस सिलसिले में कई बार जेल गए।

मौलाना शौकत अली (1873-1933 ई०)

मौलाना शौकत अली तहरीके-ख़िलाफ़त के अज़ीम लीडर, अंजु खुद्दामे-काबा के संस्थापक और मौलाना मुहम्मद अली जौहर के बड़े भाई। 10 मार्च 1873 ई. को पैदा हुए। प्रारम्भिक शिक्षा बरेली हाई स्कूल से प्र की। मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ से बी.ए. पास किया। ग्रेजुएट होने बाद सरकारी नौकरी कर ली। सर आगा ख़ाँ के प्राइवेट सेक्रेट्री भी रहे। मिस्लित-मुल्क की सेवा के लिए पेंशन ले ली।

स्वतंत्रता संग्राम में मर्दानावार हिस्सा लिया। पहली बार 30 मई 19 ई. में गिरफ़्तार हुए। दिसम्बर 1919 ई. को रिहाई हुई। फिर ख़िलाफ़ तहरीक के सिलसिले में मशहूर कराची मुक़दमे में दो बार सज़ा पाई। अपने साथियों के साथ दो साल कराची जेल में रहे। उसी ज़माने में द भाई 'अली बिरादरान' के नाम से मशहूर हुए और देश के गली-कूचे

च्चा-बच्चा की जुबान पर यह शेर चढ़ गया ।

बोली अम्मा मुहम्मद अली की
जान बेटा ख़िलाफ़त पे दे दे ।

आपकी मिल्ली सेवाओं को देखते हुए आपके पीर व मुर्शिद मौलाना अब्दुल-बारी फ़िरंगी महली ने आपको मौलाना की एज़ाज़ी सनद प्रदान की और फिर मौलाना ही के नाम से मशहूर हुए ।

जब ख़िलाफ़त तहरीक ने दम तोड़ दिया, तो मुस्लिम लीग में शामिल हो गए । 26 नवम्बर 1933 ई. को दिल्ली में इन्तिक़ाल हुआ । जामा मस्जिद के द्वार पर स्थित छोटी मस्जिद के अहाते में दफ़न किए गए ।

अद्भुत क्रान्तिकारी मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी

■ संपादन प्रभाग

सन् 1915-16 ई. में भारत के क्रान्तिकारियों ने काबुल में भारत की एक अस्थाई आज़ाद सरकार बनाई थी, उसके अध्यक्ष राजा महेन्द्र प्रताप थे और प्रधानमंत्री मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी ।

मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी 15 अक्टूबर 1915 ई. को काबुल पहुँचे थे वे वहाँ सात साल रहे । वे कट्टर देशभक्त और गुरुभक्त भी थे । जब उन गुरु मौलाना महमूद हसन ने सिन्धी से कहा—काबुल चलो तो उनका कहना था—क्यों ? इसी तरह दोबारा भी हुआ और तीसरी बार मौलाना महमूद हसन के काबुल चलो—कहने पर वह चुपचाप राज़ी हो गए । लेकिन काबुल जाना इतना आसान न था, क्योंकि पास में कोई छोटी-मोटी रक़म तो थी नहीं । तब शेख़ अब्दुरहीम की बेगम और बेटियों ने अपने गहने बेचकर उस मार्ग व्यय दिया ।

दो महीने में वह काबुल (अफ़ग़ानिस्तान) की सीमा पर पहुँचे और क़न्धार (गांधार) होते हुए काबुल पहुँचे । उन दिनों काबुल में अर्म हबीबुल्लाह की सरकार थी । हबीबुल्लाह दो मुँही नीति पर चल रहा था । एक ओर वह इंडो-जर्मन, टर्किश मिशन के सदस्यों से मिलकर भारत में अंग्रे हुकूमत के विरुद्ध युद्ध की योजना बना रहा था और युद्ध के लिए उन मिशनों से ख़ूब रुपया ऐंठ रहा था, तो दूसरी ओर वह उन तमाम योजनाओं को लिखकर अंग्रेज़ों को दे रहा था । बदले में वह उनसे भी मोटी रक़म वसूलता था ।

प्रधानमंत्री नसरुल्लाह ख़ाँ, जो अमीर के भाई थे, मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी को बहुत चाहते थे, इसलिए नसरुल्लाह ख़ाँ की मदद से वह 'वजूदुल्लाह' नामक संस्था स्थापित की गई, जो राजनीतिक गतिविधियों के

चालन करती थी। बाद में यह संस्था अस्थाई आज़ाद भारत सरकार में मलीन कर दी गई।

इसी दौरान भारत में अंग्रेज़ों के विरुद्ध जंग छेड़ने सम्बन्धी पत्र जो मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी और मौलाना मंसूरी ने मक्का स्थित मौलाना हमूद हसन को किसी के हाथों भिजवाए थे, वे ख़ान बहादुर हक़नवाज़ ख़ाँ के हाथों पड़ गए और उसने उन पत्रों को सर माइकेल ओडायर को थमा दिया। उक्त घटना के घटते ही मक्का में मौलाना महमूद हसन को गिरफ़्तार कर लिया गया। जो लोग मुसलमान देश भक्त, क्रान्तिकारियों से अपरिचित हैं, उन्हें उनकी कुरबानी और काम की महत्ता समझने की ज़रूरत है।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर, जो सन् 1918 ई. में ख़त्म हुआ, ताबुल स्थित अस्थाई आज़ाद भारत सरकार भंग कर दी गई। मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी एक ऐसे कमरे में नज़रबन्द कर दिए गए जिसमें मुश्किल से दस आदमी रखे जा सकते थे, किन्तु उसमें 25 आदमी नज़रबन्द थे। इस बात की शिकायत जब आला अधिकारी से की गई तो उसने मौलाना उबैदुल्लाह को एक बाग़ में तम्बू लगवाकर उसमें भेज दिया।

इसी मध्य अमीर हबीबुल्लाह ख़ाँ, काबुल के शासक की हत्या कर दी गई और शाह अमानुल्लाह शासक बन गए। अमानुल्लाह ने मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी को नज़रबन्दी से मुक्त कर दिया। अफ़ग़ान शासक शाह अमानुल्लाह मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी का बहुत आदर करता था, इसलिए राज-काज में भी उनसे सलाह-मशवरा लिया करता था। सन् 1919 ई. में अफ़ग़ानिस्तान ने, भारत के पश्चिमी सीमान्त प्रांत पर आक्रमण भी मौलाना सिन्धी की प्रेरणा और योजना के अनुसार ही किया था।

जनरल नादिर ख़ाँ की बड़ी सेना के साथ सरहद के क़बीलों के शामिल हो जाने से अंग्रेज़ अधिकारी घबरा गए। मौलाना उबैदुल्लाह के साथी, सहयोगी मौलाना ज़फ़र हुसैन ने, जो लाहौर से काबुल गए थे, क़बीलों को प्रोत्साहित करने में महान योगदान किया था।

अंग्रेज़ों की हवाई बम वर्षा और सरहद के क़बीलों का काबुल का साथ

देना, दोनों बराबर की टक्कर थी। अन्ततः अंग्रेजों को काबुल से संधि करना पड़ी। यद्यपि काबुल की विदेश नीति की स्वतंत्रता अंग्रेज मान गए, लेकिन उन्होंने काबुल में मौलाना अब्दुल्लाह सिन्धी की राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध की शर्त भी संधि में जोड़ दी। शाह अमानुल्लाह, जो उसी दौरा गद्दी पर बैठे थे, अपनी सत्ता की खातिर उन शर्तों को मान गए, जो भारतीय मुसलमान क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में निषेधात्मक थीं। यह संधि 8 अगस्त 1922 ई. को हुई थी।

अन्ततः सात साल तक काबुल अगाध रूप से राजनीतिक गतिविधियों को संचालित करने वाले मौलाना अब्दुल्लाह सिन्धी को काबुल छोड़ना पड़ा यह घटना सन् 1922 ई. के 22 अक्टूबर की है। रूसी तुर्किस्तान होते हुए वे मास्को पहुँचे और वहाँ सात मास तक उन्होंने कम्युनिज़्म का अध्ययन किया। वहाँ से भी वह अंगोरा चले गए और वहाँ तुर्की के जन-जागरण का समझा, जाना। साथ ही पेन इस्लामिक आन्दोलन का भी उन्होंने बारीकी से अध्ययन किया। तब उन्होंने अपनी गतिविधियों को कांग्रेस आन्दोलन में विलीन करने की ठानी। वहाँ से उन्होंने हिन्दुस्तान के मुसलमानों से कांग्रेस आन्दोलन में बड़-चढ़कर हिस्सा लेने की अपील की। पत्रक छपवाकर भिजवाए, जो उर्दू-अंग्रेज़ी-दोनों भाषाओं में थे। तीन वर्ष तक तुर्की में रहने के बाद वह इटली चले गए।

इटली में मौलाना अब्दुल्लाह सिन्धी की भेंट स्व. जवाहर लाल नेहरू से हुई। दोनों में ख़ूब विचार विनिमय हुआ। अपने विगत जीवन की हलचल से भी जवाहर लाल नेहरू को उन्होंने अवगत कराया।

पं. नेहरू ने अपनी कहानी में लिखा है—

“इनके अलावा एक मौलवी अब्दुल्लाह सिन्धी थे, जो कुछ समय के लिए मुझसे इटली में मिले थे। ...हिन्दुस्तान के संयुक्त राज्यों या हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातंत्र की उन्होंने एक योजना बनाई थी, जो हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की काफ़ी अच्छी कोशिश थी।”

कहने का मतलब यह है कि पं. जवाहर लाल नेहरू भी मौलाना

दुल्लाह सिन्धी की प्रतिभा के कायल थे। एक दूसरी जगह पर भी नेहरू उनकी तारीफ़ की है।

जब लाला लाजपतराय ने मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी पर मुस्लिम देशों [भारत पर अधिकार करवाने की साज़िश का आरोप लगाया था—तो पं. आहरलाल नेहरू ने कहा था और मेरी कहानी में लिखा है—

“मुझे याद है कि जब मैंने स्विटज़रलैंड में हिन्दुस्तानी अख़बारों में लाला के इल्ज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया।” यानी भारत के मुसलमान, क्रान्तिकारी थे, इस्लाम के पक्के अनुयाई और सही अर्थों में भारतीय थे, भक्त थे। सन् 1936 ई. में जब कांग्रेस सात प्रांतों में सत्ता में आई, तो पं. आहरलाल नेहरू के मुख्यमंत्री स्व. अल्लाबख़्श ने मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी को भारत लौटने की सूचना भेजी। इससे पूर्व वे हिजाज़ में बसने के इच्छुक थे। मैं रहते उन्होंने एक मदरसा भी चलाया था। राजनीतिक गतिविधियों पर बन्दी थी, लेकिन उक्त सूचना व पासपोर्ट मिल जाने पर वह मार्च 1939 में भारत लौट आए।

भारत आते ही मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी ने घोषणा की कि मैं पहले भी ग्रेसी था और अब भी कांग्रेसी हूँ। वे भारत के मुसलमानों को तुर्की के मुसलमानों जैसा जीवन बनाने की बात करते तो लीगी मुसलमान ख़फ़ा होते। अन्य मौलवी भी उनसे सहमत न थे।

मौलाना उबैदुल्लाह ने कहा था—भारत के नौजवान मुसलमानों को बन्द और पायजामे की जगह नेकर पैट अपनानी चाहिए, सेना में भर्ती ना चाहिए, शिक्षित बनना चाहिए। टोप पहनकर नमाज़ अदा करनी हिए।

ये सब बातें हिन्दुस्तान के मुसलमान मंज़ूर करने को तैयार न थे, अतः मौलाना उबैदुल्लाह भारत तो लौट आए, लेकिन मौत आने तक तंग हालत ही रहे। जिन दिनों वह दिल्ली के ओखला में रह रहे थे, उनके पास दिल्ली जाने के लिए बस किराया तक न होता था और दस किलोमीटर पैदल चलाकर दिल्ली आते थे।

मोटा खदर का कुर्ता, पायजामा और सर पर अंगोछा यही उनकी पोश थी। लंबी लाठी का सहारा लिए, बिलकुल किसान की तरह ज़िन्दगी बिताने वाले मौलाना अब्दुल्लाह सिन्धी को देखकर यह अनुमान लगाना आस नहीं था कि वे एक महान देशभक्त क्रान्तिकारी हैं।

सन् 1944 के 21 अगस्त को रियासत बहावलपुर (भावलपुर) के दीनस्थान पर क्रान्ति का वह अनुपम योद्धा सदा के लिए सो गया, जिसने व अफ़ग़ानिस्तान के निर्माण में और भारत की स्वतंत्रता के संग्राम में उ महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

‘क्रान्तिदूत’ अजीमुल्लाह ख़ाँ

■ संपादन प्रभाग

अजीमुल्लाह ख़ाँ यूसुफ़ज़ई 1857 ई. की क्रान्ति के आधार स्तम्भों में से थे। उन्होंने नाना साहब (नाना राव पेशवा बाजीराव द्वितीय) के साथ मिलकर क्रान्ति की योजना तैयार की थी। नाना साहब ने इनके साथ भारत के कई तीर्थ स्थलों की यात्रा भी की व क्रान्ति का सन्देश भी फैलाया। नाना साहब का जन्म बिठूर (कानपुर) में 19 मई 1824 ई. को हुआ था। अजीमुल्लाह ‘क्रान्तिदूत’ की उपाधि से सम्बोधित किए जाते हैं।

अजीमुल्लाह ख़ाँ का जन्म 1830 ई. में साधारण परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता बहुत गरीब थे। वे कानपुर के एक स्कूल में पढ़ते थे, पढ़ने में मेधावी थे, इसलिए उनकी फ्रीस माफ़ की गई व छात्रवृत्ति भी दी गई। बाद में वे इसी स्कूल में शिक्षक बन गए।

अजीमुल्लाह ख़ाँ की योग्यता व ईमानदारी की कहानी नाना साहब के कानों तक पहुंची तो, उन्होंने उनको अपना मंत्री बना लिया। नाना साहब के यहाँ आने से पहले अजीमुल्लाह ख़ाँ एक ब्रितानी पदाधिकारी के यहाँ बावर्ची का काम करते थे। उसके यहाँ अजीमुल्लाह ख़ाँ ने अंग्रेज़ी व फ्रांसीसी दोनों भाषाओं व ब्रितानियों के रीति-रिवाजों को सीखा। 26 जनवरी 1851 ई. में जब बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हो गई तो उनके दत्तक पुत्र नाना साहब को पेशवा की उपाधि व व्यक्तिगत सुविधाओं से वंचित रखा गया।

1854 ई. में नाना साहब ने अजीमुल्लाह ख़ाँ को अपना राजनीतिक दूत बनाकर इंग्लैंड भेजा। उन्होंने ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों से मिलकर नाना साहब के लिए वकालत की, लेकिन उन्हें निराशा ही हाथ लगी। गवर्नर जनरल ने निर्णय सुनाया कि बाजीराव के दत्तक पुत्र (नाना साहब) को अपने पिता की पेंशन नहीं दी जाएगी। अजीमुल्लाह ख़ाँ निराश नहीं हुए। वे कुछ समय लंदन ही में रहे। वहाँ इनकी मुलाकात रंगों बापू जी से हुई, जो सतारा के उत्तराधिकारी को उनके अधिकार दिलाने के लिए

उनके प्रतिनिधि बनकर आए थे, लेकिन उनको भी सफलता नहीं मिली धीरे-धीरे अज़ीमुल्लाह ख़ाँ व रंगों बापू दोनों का हृदय प्रतिशोध के लिए तड़प उठा। दोनों ने मिलकर कम्पनी सरकार का विरोध करने की योजना बनाई। ये दोनों क्रान्ति की योजना बनाने लगे। रंगों बापू तो भारत लौट आए परन्तु अज़ीमुल्लाह ख़ाँ ने अन्य देशों की यात्राएँ कीं, जिनका उद्देश्य भारत की राजनीतिक स्थिति से विदेशियों को परिचित कराना था। भारत लौटने पर क्रान्ति की योजनाएँ बनाई जाने लगी। अज़ीमुल्लाह ख़ाँ 1857 ई. की क्रान्ति के प्रमुख विचारक थे, जिन्होंने भले ही मैदान में युद्ध न किया हो पर युद्ध करनेवालों के लिए कई नीतियाँ बनाई सन् 1857 ई. की क्रान्ति के वे एक प्रमुख योद्धा थे और वे अन्त तक नाना साहब के अति विश्वास पात्र रहे।

आखिर वे कानपुर लौट आए और नाना साहब से कहकर उन्होंने भारत के प्रायः सभी नवाबों, राजाओं के पास दूत भेजकर क्रान्ति सन्देश पहुँचवाया। अज़ीमुल्लाह ख़ाँ की डायरी से पता चलता है कि उन्होंने इलाहाबाद, गया, जनकपुर, पारसनाथ, जगन्नाथपुरी, पंचवटी, रामेश्वरम, द्वारिका, नासिक, आबू आदि स्थानों की यात्रा की। 4 जून को कानपुर में क्रान्ति हो गई, जिसका नेतृत्व नाना साहब ने किया। इस युद्ध में अज़ीमुल्लाह ख़ाँ का महत्वपूर्ण योगदान रहा। 17 जुलाई को क्रान्ति पुनः कानपुर में फैल गई। अन्त में क्रान्तिकारी पराजित हो गए, क्योंकि उन लोगों के पास साधनों का अभाव था। क्रान्ति के विफल होने पर अज़ीमुल्लाह ख़ाँ नेपाल की तराई की ओर चले गए। नेपाल का राजा राणा जंग बहादुर ब्रितानियों का हितैषी था। वह क्रान्तिकारियों को क्षति पहुँचाना चाहता था।

यहाँ अज़ीमुल्लाह ख़ाँ को कई कष्ट उठाने पड़े, लेकिन उन्होंने घुटने नहीं टेके। अज़ीमुल्लाह ख़ाँ का देहांत 1859 ई. के अक्टूबर के महीने में नेपाल की तराई भुरवल में हुआ था। उनके बलिदान को हमेशा याद रखा जाएगा।

गुमनाम नायक मौलवी अहमद शाह

■ संपादन प्रभाग

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रौशन सितारों में से एक मौलवी अहमद शाह थे। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी यह राष्ट्र-पुरुष कुशल संगठक तेजस्वी वक्ता, क्रान्तिकारी लेखक और छापामार युद्ध कला के कुशल विद्वान् थे। अंग्रेज़ उनसे ऐसा थरते थे कि उनकी सूचना देनेवाले व्यक्ति को चास हजार रुपयों (आज के हिसाब से दो करोड़ रु.) का पुरस्कार देने की धमकी दी गई थी।

ऐसे तेजस्वी और देश-प्रेम से ओतप्रोत मौलवी अहमद शाह अयोध्या के लल्लुकदार थे। नाना साहब का गुप्त सन्देश मिलते ही उन्होंने पूरे अवध जन-जागरण शुरू कर दिया। लखनऊ में दस-दस हजार लोगों की सभा उन्होंने सिंह गर्जना कर दी, “यदि तुम स्वदेश और स्वधर्म का मंगल चाहते हो तो उसके लिए फ़िरंगियों की तलवार की धार उतार देना ही क-मात्र धर्म है।” आगरा में उन्होंने एक मज़बूत संगठन बना लिया था। पूरे भारत में स्वतंत्रता की चेतना भर दी। जहाँ भी वे पहुँचे, वहीं लोगों ने क्रान्ति में सम्मिलित होने का निर्णय ले लिया। फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने उनकी लल्लुकदारी छीन ली और बन्दी बनाकर उन्हें मृत्यु दण्ड का आदेश भी कर दिया। किन्तु ऐसी क्रद्दावर शख़्सियत को फाँसी पर लटका देना क्या अंग्रेज़ों के लिए आसान था ?

मेरठ में 10 मई 1857 ई. को क्रान्ति का विस्फोट हो जाने के बाद भी लखनऊ पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार 31 मई तक शांत रहा। 31 मई को लखनऊ में सैनिक छावनी के भारतीय सैनिकों ने स्वतंत्रता की पताका फहरा दी। उसके बाद सीतापुर, फ़र्रुखाबाद, बहराइच, गोंडा, बलरामपुर आदि स्थानों से भी अंग्रेज़ी शासन समाप्त कर दिया। फैज़ाबाद में मौलवी अहमद शाह अंग्रेज़ों के बन्दी थे। अतः वहाँ तो पहले ही से जनता में अबरदस्त आक्रोश था। 5 जून को फैज़ाबाद में तैनात 15 वीं पलटन के

जवानों और नागरिकों ने नारा लगाते हुए सूबेदार दिलीप सिंह के नेतृत्व अंग्रेजों को मौत के घाट उतारकर मौलवी अहमद शाह को कारागार से छु लिया। इसी के साथ 10 जून तक लगभग पूरा अवध स्वतंत्रता की खु हवा का आनन्द लेने लगा। अवध के केन्द्र लखनऊ में भी अंग्रेजी सत्ता समाप्त हो चुकी थी, किन्तु वहाँ के कमिश्नर हेनरी लॉरेंस ने एक हजार गो 800 भारतीय सिपाहियों और कुछ तोपों के साथ लखनऊ की रेजीडेंसी मोर्चा जमा लिया था। इस तरह पूरे अवध में अंग्रेजी सत्ता उस रेजीडेंसी त सिमटकर रह गई थी। नवाब वाजिद अली शाह की बेगम हज़रत महल शासन अपने हाथ में ले लिया।

मौलवी अहमद शाह अब लखनऊ आ गए और बेगम हज़रत महल व सहायता करने लगे। इसी के साथ वे अपने आग उगलते लेखों और भाष से अंग्रेजी सत्ता को निर्मूल कर देने का आह्वान भी कर रहे थे। इसी व परिणाम था कि अवध का बच्चा-बच्चा शस्त्र उठाकर क्रान्ति में कूद पड़ अकेले लखनऊ में बीस हजार से अधिक लोगों ने स्वातंत्र्य समर में हिस् लिया था। रेजीडेंसी में मोर्चा जमाए अंग्रेजों के साथ स्वातंत्र्य सैनिकों व घमासान अब पराकाष्ठा पर था। हेनरी लॉरेंस की मौत हो चुकी थी। जनर हैवलाक ने कानपुर से लखनऊ आने के लिए गंगा पार करने की धृष्टता व ही थी कि नाना साहब ने कानपुर पर धावा बोल दिया। परिणामस्वर हैवलाक को लौटना पड़ा। 20 सितम्बर को हैवलॉक फिर लखनऊ की अ बढ़ा। इस समय नील, आउट्रम और आयर जैसे कुशल सेनापति भी उस साथ थे। 25 सितम्बर को एक हजार फ़िरंगी सैनिक और जनरल नील व बलि चढ़ने के बाद हैवलॉक रेजीडेंसी तक पहुँचने में सफल हो गया, लेकि स्वातंत्र्य सैनिकों ने अब हैवलॉक को चारों ओर से घेर लिया।

23 नवम्बर को कोलिन केम्पवेल, आउट्रम और हडसन की संयु सेनाओं ने भीषण संघर्ष के बाद रेजीडेंसी में घिरे अंग्रेजों को छुड़ा लिया पि भी हैवलॉक मारा गया। लखनऊ के आलम बाग़ में जमी फ़िरंगी सेना उ क्रान्तिकारियों पर ज़बरदस्त हमले की तैयारी करने लगी। परिस्थिति निराशाजन थी, किन्तु मौलवी अहमद शाह निरन्तर लोगों में आशा का संचार कर

। अब युद्ध का मोर्चा खुद उन्होंने सम्भाला। 22 दिसम्बर को उन्होंने लाम बाग में जमी अंग्रेज़ सेना पर हमला किया। युद्ध में वे घायल हुए तथा हें पीछे हटना पड़ा। अब बेगम हज़रत महल ने रणक्षेत्र में तलवार उठाई, ग्नु अंग्रेज़ों की सहायता के लिए नई सेना आ गई, इसलिए उनको भी छे हटना पड़ा। आखिर 14 मार्च 1858 ई. को जनरल कॉलिन ने तीस ज़ार सैनिकों के साथ गोमती को पार कर उत्तर की ओर से लखनऊ पर आक्रमण किया और इसे जीतने में सफलता पाई। बेगम हज़रत महल तथा मौलवी अहमद शाह अंग्रेज़ों का घेरा तोड़कर बच निकले। मौलवी साहब ने अब अंग्रेज़ों के खिलाफ़ छापामार युद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने लखनऊ से 45 कि.मी. दूर बारी में पड़ाव डाल दिया। बेगम हज़रत महल 6 हज़ार सैनिकों के साथ बोतौली में आ गई। अंग्रेज़ सेनापति होप ग्रांट नके पीछे लगा हुआ था। इस समय अंग्रेज़ों की सेना लगभग एक लाख सैनिकों की हो गई थी। रूईयागढ़ में होप ग्रांट को भी नरपतिसिंह ने मौत दे घाट उतार दिया। अंग्रेज़ों का घेरा कसते देख अब मौलवी साहब बरेली की ओर चल पड़े।

बरेली रुहेलखण्ड की राजधानी थी। अंग्रेज़ों ने षड्यंत्रपूर्वक सन् 1801 ई. में अवध के नवाब से इसे छीन लिया था। पूरे रुहेलखण्ड में स्वातंत्र्य लाने के लिए गुप्त संगठन खान बहादुर ख़ाँ ने खड़ा किया था। 1857 ई. में इतिहास में इस वीर पुरुष का नाम भी स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए। 1 मई 1857 ई. को बरेली और पूरा रुहेलखण्ड स्वतंत्र हो गया। सेनानायक ख़ाँ को दिल्ली भेजकर खान बहादुर ने रुहेलखण्ड में बादशाह के नाम पर प्रशासन चलाना शुरू कर दिया।

4 मई 1858 ई. को मौलवी साहब तथा बेगम हज़रत महल के साथ-साथ नाना साहब पेशवा और दिल्ली के शहज़ादे फ़िरोज़ शाह भी बरेली पहुँच गए। खान बहादुर के साथ सभी ने यहाँ आगे के संघर्ष की रणनीति तैयार की। पीछे-पीछे अंग्रेज़ सेनापति कैम्पबेल भी दौड़ा चला आ रहा था। यहाँ मौलवी अहमद शाह ने युद्ध कला की बानगी दिखाई। 5 मई को कैम्पबेल का घेरा पड़ते ही वे नाना साहब के साथ बरेली से निकल गए और

शाहजहाँपुर पर धावा बोल दिया। केम्पबेल पुनः लौटा, तो मौलवी साह बिजली की तेज़ी से अवध की ओर बढ़े तथा छापामार युद्ध से अंग्रेज़ों व नार्क में दम करने लगे। पूरे क्षेत्र में वे हवा की तरह घूमते और मौक़ा लग ही अंग्रेज़ों पर अचानक हमला कर देते। हताश होकर अंग्रेज़ों ने उनका सूचना देनेवाले को पचास हजार रुपयों के पुरस्कार की घोषणा कर दी। पोवेन का देशद्रोही राजा जगन्नाथ इस लालच में आ गया। सहायता देने बहाने उसने इस महान सेनानी को धोखे से अंग्रेज़ों के हवाले करवा दिया। उस विश्वासघाती ने उनका सिर क़लम कर अंग्रेज़ों के पास भिजवा दिया।

आगरा में उन्होंने एक गुप्त संगठन की स्थापना की थी, लखनऊ में एक ऐसी गुप्त योजना तैयार की थी। जिसकी फ़िरंगियों को भनक तक लग सकी थी। उन्होंने अंग्रेज़ों को देश से बाहर निकालने के लिए व्याप जाल बिछाया था। साथ ही अंग्रेज़ों के विरुद्ध पोस्टर, पुस्तिकाएँ लिखीं और छापकर उन्हें जनता में बटवाया था। एह हाथ में तलवार और दूसरे हाथ क़लम पकड़े वह लगातार फ़िरंगियों के विरुद्ध प्रचार करने में लगे रहते थे।

मौलवी अहमद शाह की इस कार्रवाई से अंग्रेज़ भयभीत रहते। अन्ततः उन्हें गिरफ़्तार करने का पुलिस को हुक्म दिया गया, लेकिन भारती पुलिस ने साफ़ कह दिया कि वह उन्हें गिरफ़्तार नहीं कर सकेगी। अन्त एक फ़ौजी टुकड़ी को उन्हें गिरफ़्तार करने को भेजा गया। वह गिरफ़्तार व लिए गए और उन पर राजद्रोह का दावा करके उन्हें फ़ाँसी की सज़ा सुनाव फ़ैज़ाबाद जेल में बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमद शाह को जेल भेजते ही सारा फ़ैज़ाबाद नगर और जनप क्रान्ति की चिनगारियों से धधक उठा। सेना भी विद्रोह कर बैठी। जब अंग्रे अधिकारी सैनिकों को नियंत्रित करने परेड मैदान गए तो सैनिकों ने यह कहकर—हम भारतीय अफ़सरों के हुक्म के सिवाय किसी और का हुक्म न मानेंगे, उनका हुक्म मानने से इनकार कर दिया और सूबेदार दिलीप सिंह व अपना नेता चुन लिया।

सूबेदार दिलीप सिंह के हुक्म से सारे अंग्रेज़ अधिकारी गिरफ़्तार कर लिए गए और हुक्म दिया गया कि वे बारह क़दम से आगे न बढ़ें। उधर जन

। सैनिक जेल पहुँचे और मौलवी अहमद शाह की बेड़ी-हथकड़ियाँ काटकर उन्हें मुक्त करा लिया गया। वह क्रान्ति के नेता घोषित कर दिए गए। उन्होंने अपनी महानता का परिचय देते हुए घोषणा की कि सारे अंग्रेज़ नगर छोड़कर चले जाएँ। इसी में उनका भला है। यहाँ तक कि जिस कर्नल पेनोक्स ने उन्हें बन्दी बनाया था, उसे भी उन्होंने माफ़ कर दिया।

अंग्रेज़ों से टक्कर लेने मुख्य क्रान्तिकारी—नाना साहब, मौलवी अहमद शाह आदि शाहजहाँपुर को अपना केन्द्र बनाए हुए थे, लेकिन अंग्रेज़ सेना ने बरेली को अपना निशाना बनाया। एक दिन की टक्कर के बाद रणबांकुरे, अंग्रेज़ सेना के काफ़ी सैनिकों को मार-काटकर बरेली के शासक ख़ाँ बहादुर की क्रान्तिकारियों में शामिल हो गए। अंग्रेज़ों का दबदबा बढ़ता जा रहा था, अतः मौलवी अहमद शाह ने पोवेल के राजा जगन्नाथ सिंह को एक पत्र लेखकर अपनी मदद करने का उनसे आग्रह किया। राजा जगन्नाथ सिंह ने उत्तर दिया कि वह उनसे (मौलवी से) मिलना चाहते हैं। मौलवी अहमद शाह जब उससे मिलने गए तो, नगर के सभी मुख्य द्वार उन्हें बन्द मिले और जशस्त्र पहरे के बीच राजा जगन्नाथ सिंह अपने भाई के साथ खड़ा मिला। यद्यपि मौलाना अहमद शाह ने भाँप लिया था कि शगुन अच्छा नहीं है, फिर भी वह राजा के समीप चले गए। उस कायर, देशद्रोही ने मौलवी अहमद शाह का सिर काट दिया और उसे एक कपड़े में लपेटकर शाहजहाँपुर में अंग्रेज़ अधिकारियों को उपहार की तरह भेंट कर दिया तथा बदले में पचास इज़ार रुपयों की थैली लेकर अपने नगर लौट आया।

कई अंग्रेज़ लेखकों ने अपनी कलम से मौलवी अहमद शाह की उदारता, श्यालुता और इनसान परस्ती की तारीफ़ लिखी है, लेकिन एक क्रूर, दानव भारतीय के धोखे के शिकार होकर वह क्रान्तिकारियों, देश भक्तों के एक नहान प्रकाश स्तम्भ बने, जो भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में सदैव चमकते रहेंगे।

अंग्रेजों के खूनी आतंक का गवाह कूचा चेलान

■ संपादन प्रभाग

हाजी इमदादुल्लाह के मक्का चले जाने के बाद वली-उल्लाही संगठन का भार मौलाना मुहम्मद क़ासिम और हाजी रशीद अहमद गंगोही के कंधों पर आ पड़ा। लेकिन अंग्रेजों ने मुसलमान, मौलवियों, विशेष रूप से दिल्ली के आलिमों का जिस तरह से क़त्ले-आम करवाया, उससे हर मुसलमान का दिल दहल गया और दिमाग़ हिल गया। इस तरह मौलाना मुहम्मद क़ासिम और हाजी रशीद अहमद गंगोही कुछ भी सोचने अथवा करने की स्थिति में नहीं रहे।

स्थिति यह थी कि हाजी रशीद अहमद गंगोही को गिरफ़्तार कर लिया गया था और वे बरेली जेल में फाँसी का इन्तिज़ार कर रहे थे। मौलाना मुहम्मद क़ासिम के पीछे गिरफ़्तारी वारंट घूम रहा था। ऐसी स्थिति में कुछ सोचना अथवा कुछ करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। आतंक, नर-संहार और आगज़नी के माहौल में कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यदि होश गँवा बैठा तो आश्चर्य करना बेकार है। कैसा था वह दहशत, आतंक भरा माहौल ख़वाजा हसन निज़ामी के शब्दों में उसकी झलक काफ़ी साफ़ नज़र आता है—

“दिल्ली के तमाम मुहल्लों से ज़्यादा चेलों के कूचे पर मुसीबत आई थी इस मुहल्ले में बड़े-बड़े शरीफ़ और नामवर उलमा रहते थे। मौलाना शाह वली-उल्लाह और शाह अब्दुल-अज़ीज़ मुहदिस का घराना भी इसी मुहल्ले में रहता था। सर सैयद अहमद ख़ाँ का घर भी इसी मुहल्ले में आबाद था। मौलाना सुब्हानी भी इसी मुहल्ले में रहते थे। ग़रज़ यह कि यह मुहल्ले बड़े-बड़े साहबे-कमाल लोगों का मख़ज़न था। मुंशी ज़का-उल्लाह भी इस मुहल्ले के बाशिन्दे थे। अब भी इनके बड़े लड़के इसी मुहल्ले में आबाद हैं

र ग़दर के वक़्त मुंशी साहब कहीं बाहर गए हुए थे और सर सैयद भी
ने कुन्बे समेत दिल्ली में न थे।”

“हुक़्म हुआ कि इस कूचे के तमाम मर्दों को क़त्ल कर दो या गिरफ़्तार
के ले आओ। इस हुक़्म की पाबन्दी इस बेदर्दी से हुई कि मुहल्ले का कोई
ज़िन्दा न बचा। या तो सिपाहियों ने घर में घुसकर मार डाला या
फ़्तार कर हाकिम के सामने ले गए, जिन्हें देखकर हाकिम ने हुक़्म दिया
इन्हें जमुना किनारे ले जाकर गोली मार दो। चुनाँचे ऐसा ही किया
॥”

लार्ड राबर्ट का बयान भी कम सनसनीखेज़ नहीं। वह लिखता है, “हम
ह को लाहौरी दरवाज़े से चाँदनी चौक गए, तो हमको शहर सचमुच में
का शहर नज़र आता था। कोई आवाज़ सिवाय हमारे घोड़ों की टापों
सुनाई नहीं देती थी, कोई इनसान नज़र न आता था। सब तरफ़ मुर्दों
बिछौना बिछा हुआ था, जिनमें कुछ सिसक रहे थे। हम लोग चल रहे
तो बहुत धीरे-धीरे बात करते थे। डर था कि कहीं हमारी आवाज़ से मुर्दे
क़ न पड़ें।”

रसल का लिखा तो और भी भयानक है। वह लिखता है, “कभी-कभी
लमानों को मारने के पहले उन्हें सूअर की खाल में सी दिया जाता था।
पर सूअर की चर्बी मल दी जाती थी और फिर वे ज़िन्दा जला दिए जाते
।” यह बात रसल की डायरी के दूसरे खण्ड के पेज 43 पर देखी जा
ती है।

लेफ़्टिनेंट माजेंडी ने भी एक ऐसी घटना का ज़िक्र यँ किया है, “एक
मल आदमी को कुछ सिपाहियों ने अपनी संगीनों से उसके मुँह को
-बार बींधा और फिर धीमे आँच में उसे ज़िन्दा ही भून दिया।”

खाजा हसन निज़ामी की पुस्तक—‘दिल्ली की जानकनी’ में ऐसी
नाओं की भरमार है। लेकिन आज के हमारे तंत्र के कर्णधार शायद
ना और अपने बच्चों का भविष्य बनाने की चिन्ता के सिवाय न इतिहास
गरिचित हैं और न क़ुरबानी, बलिदान तथा त्याग-संघर्ष की शब्दावली तथा

उसके अर्थ से वाकिफ़ हैं। आचरण या व्यवहार की उनसे उम्मीद करना ए को धोखा देना है।

ऐसे दहशत और आतंक भरे समय तथा सन् 1857 ई. की क्रान्ति हिस्सा लेने और अंग्रेजों द्वारा जेलों में ठूँसे लोगों को आम माफ़ी की घोष के बाद जब मौलाना मुहम्मद क़ासिम और हाजी रशीद अहमद गंगोही मु हुए तो वे सोचने लगे कि भारतीय मुसलमानों में चेतना बनाए रखने के त कौन-सा रास्ता अपनाया जाए। दिल्ली का कूचा चेलान मदरसा तो रहा न था। फिर शाह वली-उल्लाह से हाजी इमदादुल्लाह तक, जो परंपरा बनी 8 उसे कैसे आगे बढ़ाया जाए।

यह एक ऐसा मुसीबतों से भरा कठिन और नाजुक समय था, जब कानों के बजाय चार कान और दो आँखों की जगह चार आँखें सुनने, देख को ज़रूरी थीं। क़दम-क़दम पर ख़तरा, बात-बात में शक, ऐसे ख़तरन समय में किसी क्रान्तिकारी काम को अंजाम देना बेहद मुश्किल था। फिर मौलाना मुहम्मद क़ासिम चुप बैठे रहने को तैयार न थे क्योंकि सर सै अहमद ख़ाँ मुसलमानों को अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति को अपनाने का प पढ़ा रहे थे और अंग्रेजों को दुनिया की सबसे सभ्य क्रौम बताकर भारती को उनसे लाभान्वित होने का मशवरा दे रहे थे। ऐसे हालात में उनका 3 बैठना सम्भव ही न था।

इस तरह 1857-ई. की क्रान्ति के बाद भारतीय मुसलमान दो खेमों बँट गए थे! एक वे जो देशप्रेमी और कुरआन के पाबन्द थे और दूसरे जो राज या अंग्रेज़ भक्त हो गए थे और कुरआन की हिदायतों को वे अ लिए ज़रूरी नहीं समझते थे।

पहले वर्ग का नेतृत्व मौलाना मुहम्मद क़ासिम और उनके साथी कर थे तो दूसरे वर्ग के नेता सर सैयद अहमद ख़ाँ थे, जो 1857 ई. से प ही अंग्रेज़ हुकूमत की नौकरी में दाख़िल हो चुके थे। देश-भक्तों के त उनकी आलोचना करना भी ख़तरे से ख़ाली न था। सर सैयद अहमद ख़ाँ आलोचना का अर्थ था किसी झूठ-मूठ के षड्यंत्र में बिना अपराध ही फंस

गले पानी की सज़ा या फाँसी के रस्से में गर्दन को कसवाना ।

अंग्रेज़ हुकूमत ने पटना षड्यंत्र, अम्बाला षड्यंत्र केस बनाकर भारतीयों, पासकर मुसलमानों को चेतावनी दे दी थी कि वे हिन्दुस्तान को दारुल-स्ताम बनाने के चक्कर में न पड़ें । यदि कोई ऐसा करेगा तो सज़ा मिलनी ज़िमी है, फिर चाहे वह काला पानी की सज़ा हो या फाँसी के फन्दे पर लूने की ।

मौलाना मुहम्मद कासिम अन्ततः उस रास्ते पर उतरे जो ज़्यादा ख़तरे वाला न था । उन्होंने गुरु परम्परा के प्रथम गुरु शाह वली-उल्लाह का रास्ता अपनाकर सन् 1867 ई. में यानी 1857 ई. की क्रान्ति के दस वर्ष बाद हारनपुर से 22 मील दूर देवबन्द नाम के एक छोटे-से क़स्बे में, जो किसी ने दृष्टि से मशहूर न था, एक दारुल-उलूम (विद्या मंदिर) की स्थापना की, जो दिल्ली मदरसा के तौर-तरीके पर काम करनेवाला था ।

हाँ, यहाँ कुछ ऐसे मुसलमान ज़रूर थे, जिनके रक्त में देश-प्रेम की माहट थी । वे देवबन्द के ख़ानदानी, क़दीमी मुसलमान थे और उन्हें हिन्दुस्तान से प्यार था । वे अंग्रेज़ क़ौम को हिक्कारत की निगाहों से देखते थे । उन्हें देश का दुश्मन समझते थे ।

देवबन्द के दारुल-उलूम की नींव उनके मन की उज्ज्वल भावनाओं और स्तिष्क के उच्च विचारों की धरती पर रखी गई थी, किसी रुपयों भरी थैली के बल पर नहीं । यह बात दारुल-उलूम के संचालन के लिए बनाए गए सूत्रों में से एक है तथा इस संस्था के स्वभाव एवं विचारों को स्पष्ट करती है ।

यानी हर ऐसी बात, जिसे सत्य समझा जाए, निर्भीकता के साथ घोषणा की जाए । उसमें न तो संरक्षता और न मित्रता तथा आर्थिक सहायता का तहाज़ किया जाए ।

तो देवबन्द दारुल-उलूम की स्थापना का लक्ष्य भी अंग्रेज़ों की गुलाबी मुक्त होने के लिए शिक्षा के द्वारा साफ़-सुथरे रास्ते की पहचान थी । सन् 1857 ई. की असफल क्रान्ति के पीछे भी सन् 1719 ई. की शाह

वली-उल्लाह की मदरसा योजना थी। यह ठीक है कि 1857 ई. की क्रान्ति के और भी अनेक कारण थे। फिर भी मुसलमानों में देश-प्रेम का जज़्बा पैदा करने में वली-उल्लाही संगठन के विद्वान इमामों का ज़बरदस्त योगदान था।

यही वजह है कि उस क्रान्ति में हिन्दुओं के मुक़ाबले भारतीय मुसलमानों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और अंग्रेज़ों के जुल्म के शिकार भी वे ही ज़्यादा हुए। जिससे घबराकर उनका एक वर्ग अंग्रेज़-भक्त बना और भारत का आज़ादी की लड़ाई में लापरवाह रहा। अतः भारत के मुसलमानों पर देश-भक्त न होने का लांछन लगाना सही नहीं जँचता। मरता क्या न करत के मुताबिक़ हर इन्सान अपने बचाव के लिए ग़लत-सही क़दम उठाता है। फिर हिन्दुओं में भी ऐसे लोगों की कमी न थी, जो अंग्रेज़ों के पाल बनकर अपने सगे-सम्बन्धियों के गले कटवाते रहे। खुद सर, रायबाहादुर तथा राय साहब, जागीरदार और अंग्रेज़ हुकूमत के ऊँचे पदों पर बैठकर देशभक्त हिन्दुओं को भारी यातनाएँ देते रहे।

बल्कि हिन्दुओं को ही नहीं मुसलमानों को भी अंग्रेज़ जुल्म का शिकार बनाने में अपनी धिनौनी हरकतें, हथकण्डों का कमाल दिखाते रहे। ऐसी अंग्रेज़-परस्त हिन्दुओं ने अपने भाई अन्य हिन्दुओं के घर नीलाम करवाए ज़मीन-जायदादें कुर्क करवाईं और अचरज यह है कि सन् 1947 ई. अंग्रेज़ों के भारत से चले जाने के बाद वे आज़ादी के दिवाने बनकर सत्ता पर क़ब्ज़ा जमा बैठे।

हालत यह है कि अब भी उन्हीं की औलाद सत्ता पर एकाधिकार जमा बैठी है। लोकतंत्र के नाम पर नौकरशाही तंत्र काबिज़ है। यानी दिवाने-ख़ास दिवाने-आम न होकर आज भी दिवाने-ख़ास ही है।

तो देवबन्द का दारुल-उलूम आम आदमी के लिए स्थापित किया गया था, न कि ख़ासुल-ख़ास के लिए। यह बात मौलाना मुहम्मद कासिम ने सत्ता तौर पर दारुल-उलूम की स्थापना पर ही ज़ाहिर कर दी थी। उन्होंने कहा था “इस मदरसे का सम्बन्ध ज़्यादा साधारण मुस्लिम जनता से रखा जाए जिससे मुसलमानों में अपने-आप एक संगठन कायम हो जाएगा।”

“भदरसे का कोई स्थाई कोष न बनाया जाए, न किसी राजा, नवाब या सरकार से आर्थिक सहायता ली जाए और न संरक्षण आदि।”

देवबन्द दारुल-उलूम से प्रथम स्नातक के रूप में महमूद हसन निकले, तो महान क्रान्तिकारी अंग्रेज़ हुकूमत के लिए भारी सिर दर्द साबित हुए, अंग्रेज़ उन्हें भारी ख़तरनाक आदमी की शक्ति में पहचानते थे। संयोग की बात है कि देवबन्द दारुल-उलूम के संस्थापक मौलाना मुहम्मद क़ासिम और प्रथम शिक्षक मुल्ला महमूद तथा प्रथम स्नातक महमूद हसन तीनों का ही नाम ‘म’ से शुरू होता है। इन तीन देश-भक्त क्रान्तिकारियों द्वारा उस जुल्मो-सितम के माहौल में दारुल-उलूम की स्थापना, उसमें शिक्षक बनना और वहाँ से पढ़-लिखकर अंग्रेज़ हुकूमत को उखाड़ने के लिए प्राणों की ग़ाज़ी लगाना एक ऐसी एतिहासिक घटना है जो अविस्मरणीय रहेगी।

देवबन्द दारुल-उलूम, जो सन् 1867 ई. में स्थापित हुआ था, से प्रथम पाँच स्नातक—मौलाना महमूद हसन, मौलाना अब्दुल-हक़, मौलाना फ़ख़रुल-असन गंगोही, मौलाना फ़तह मुहम्मद थानवी और मौलाना अब्दुल्लाह ज़लालाबादी थे। जिन्हें 9 जनवरी 1874 ई. को ‘दस्तारे-फ़ज़ीलत’ (विद्वान होने की पगड़ी बांधने) की रस्म पूरी की गई। इस तरह और देश-प्रेमी भारतीय मुसलमान देश-प्रेम का सबक सिखाने के लिए देवबन्द को केन्द्र बना चुके थे तो दूसरी तरफ़ सर सैयद अहमद ख़ाँ अंजुमने इस्लाम नाम का संगठन और मुसलमानों के लिए मुस्लिम यूनीवर्सिटी की स्थापना करके नामवरी की मिसाल क़ायम करने में लगे थे।

यहाँ उल्लेख करना असंगत न होगा कि सर सैयद अहमद ख़ाँ देवबन्द के मौलानाओं से भी अलीगढ़ मुस्लिम कॉलेज में सहयोग चाहते थे और जब उन्होंने एक सन्देश वाहक को वहाँ मौलाना रशीद अहमद गंगोही के पास भेजा और उसने सहयोग की बात सामने रखी, तो मौलाना गंगोही का जवाब था, “भाई! हम तो अपने इस इमाम (मौलाना मुहम्मद क़ासिम) के मातहत हैं। वह जैसा हुक्म देंगे वही मंज़ूर है।”

फिर जब उस आदमी ने क़ासिम साहब से सहयोग देने की बात कही, तो उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया। इस पर उसने कॉलेज में शामिल होकर

उसके दोष दूर करने की बात कही तो उनका जवाब था, “बबूल के दरख की चाहे जितनी टहनियाँ काटी जाएँ, उनमें फिर से काटे ही निकलेंगे उसका सुधार तो यही है कि उसे जड़ से उखाड़कर फेंक दिया जाए।”

यह था मौलाना मुहम्मद क़ासिम का राष्ट्रीय दृष्टिकोण ! लेकिन 187 में अलीगढ़ में मुस्लिम कॉलेज स्थापित हो गया और कॉलेज में शिक्षा देने के लिए विलायत से अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर बुलाकर नियुक्त किए गए। उनकी शिक्षा का मुख्य आधार वहाँ पढ़नेवाले मुस्लिम छात्रों को यह बताना था कि हिन्दुओं और तुम्हारे जीवन में कोई भी बात, रस्म-रिवाज, सभ्यता, संस्कृति भाषा, मज़हब आदि साझा नहीं, फिर मुल्क ही साझा क्यों रहे ! इसलिए मुल्क भी अलग होना बहुत ज़रूरी है। सत्ता में बैठे अंग्रेज़ तो हिन्दू-मुसलमान को चीर ही रहे थे, शिक्षा के अमृत में भी वही ज़हर मिलाकर पिलाया जा रहा था।

सन् 1878 ई. में ही देवबन्द दारुल-उलूम के संस्थापक मौलाना मुहम्मद क़ासिम का देहान्त हो गया और उनकी जगह हाजी रशीद अहमद गंगोह दारुल-उलूम की देखभाल करने लगे। यहाँ के प्रथम छात्र मौलाना महमूद हसन भी अवैतनिक रूप से यहाँ शिक्षा का काम करने लगे थे।

सन् 1884-85 ई. में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद देवबन्द मदरसा ने मुसलमानों से साफ़ तौर पर कांग्रेस में शामिल होने का वकालत की थी।

मुहम्मद बख्त ख़ाँ

■ संपादन प्रभाग

23 जून, 1857 ई. के आस-पास जब दिल्ली के सम्राट बहादुर शाह ऋर देश प्रेमी लोगों व सैनिकों के साथ अंग्रेज़-सेना से टक्कर ले रहे थे और ख सेना द्वारा अंग्रेज़ों का साथ देने के कारण अंग्रेज़ों का हौसला बुलन्द गया था, ठीक उन्हीं दिनों रुहेलखण्ड की क्रान्तिकारी सेना की लगाम में सेनानी मुहम्मद बख्त ख़ाँ दिल्ली पहुँचा और उसने बादशाह ज़फ़र से ः सेना की सेवाएं लेने की प्रार्थना की। सम्राट ने उसकी प्रार्थना मानने के थ ही, उसे सेनाध्यक्ष भी नियुक्त किया।

प्रधान सेनापति बनने के बाद मुहम्मद बख्त ख़ाँ ने सम्राट से कहा, यदि ःारा कोई भी नागरिक; यहाँ तक कि राजा ख़ानदान का व्यक्ति भी नगर ेल्ली) में लूटमार करता पाया गया, तो उसे भी माफ़ नहीं किया जाएगा। ः्राट ने यह बात मान ली और पूरे अधिकार उसे दे दिए।

तीन जुलाई 1857 ई. को अंग्रेज़ सेनापति बर्नार्ड के नेतृत्व में गोरी फ़ौज ःर मुहम्मद बख्त ख़ाँ के नेतृत्ववाली क्रान्तिकारी सेना के मध्य घमासान ुद्ध हुआ और अंग्रेज़ सेना को पराजय देखनी पड़ी। अतः बर्नार्ड को भारी ुक्का लगा और हैजा होने से 5 जुलाई को उसकी मृत्यु हो गई। इस घटना े बाद जनरल रीड ने अंग्रेज़ी सेना की कमान सम्भाली।

चौदह जुलाई तक लगातार घमासान युद्ध चलता रहा। उसी दिन ःान्तिकारियों में से किसी की गोली से एक अंग्रेज़ योद्धा चेम्बरलेन की मौत ई।

अंग्रेज़ दिल्ली का घेरा ख़त्म करने की तैयारी में थे कि इस बीच अंग्रेज़ ःधिकारी वेयर्ड स्मिथ, जनरल विल्सन और सर लारेंस के साथ निकल्सन के ृतृत्व में दो हज़ार अंग्रेज़ी सैनिकों के आने से स्थिति बदल गई। अंग्रेज़ों में ुत्साह जागा और दिल्ली का घेरा यथावत् बना रहा।

सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र ने करीब दो दर्जन राजाओं, नवाबों को भेजे और भारत की आज़ादी के युद्ध में भाग लेने का आह्वान किया, कि सब व्यर्थ गया। इसी बीच क्रान्तिकारी सेनाएँ आपस में ही मतभेदों उलझने लगीं। सैनिक अधिक वेतन की माँग करने लगे। सम्राट ज़फ़र सेनापति मुहम्मद बख़्त ख़ाँ से मंत्रणा की तथा जन-सभा में फ़ैसला हुआ ' बिना युद्ध के हम दिल्ली को अंग्रेज़ों के हवाले नहीं करेंगे।

वेयर्ड स्मिथ, जनरल रीड, निकल्सन तथा दिल्ली में चार मोर्चे बनाए अलग-अलग मोर्चों का नेतृत्व करने लगे। 14 सितम्बर के घमासान युद्ध जनरल रीड मारा गया तथा निकल्सन मरणासन्न था। यानी चार में खोलने, युद्ध लड़ने के पहले दिन अंग्रेज़ सेना के तीन सेनापति आहत व अधिकारी, 11 सौ सैनिक मारे गए। 24 सितम्बर 1857 तक दिल्ली का त चौधार्ई भाग अंग्रेज़ों के कब्जे में चला गया।

सेनापति मुहम्मद बख़्त ख़ाँ ने सम्राट ज़फ़र को दिल्ली से बाहर सुरक्षि भेजने और युद्ध लड़ने की सलाह दी, लेकिन विलासी और जर्जर सम्राट तैय न हुआ। अन्ततः ज़फ़र को आत्म समर्पण करना पड़ा और उनके तीन पु की हत्या कर दी गई। अंग्रेज़ सेना के करीब चार हज़ार लोग मारे गए। कर इतने ही क्रान्तिकारी सेना के लोग भी मारे गए। आज़ादी के लिए ल वाली सेना ने लगातार 134 दिन तक अंग्रेज़ सेना का मुकाबला किया। बेच मुहम्मद बख़्त ख़ाँ की वीरता भी दिल्ली को न बचा सकी, लेकिन अंग्रेज़ों उसके रण-कौशल को मुक्त कंठों से सराहा था।

वली दाद ख़ाँ

■ संपादन प्रभाग

इतिहास में केवल उन्हीं को याद किया जाता है, जिन्होंने अपने देश की राजादी के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान कर दिया है। त्यागी व्यक्ति को अपने त्याग का फल एक न एक दिन अवश्य प्राप्त होता है। हमारे देश का दुर्भाग्य रहा है कि अपने शत्रुओं को पहचानने में असफल रहे, यदि पहचान भी लिया, तो संगठित होकर उन्हें देश से बाहर निकालने का प्रयास नहीं किया। 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय पहली बार हेन्दुओं ने मुसलमानों के सहयोग से ब्रितानियों को भारत से बाहर निकालने का प्रयास किया था।

1857 ई. के अमर क्रान्तिकारियों में वली दाद ख़ाँ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे बुलन्दशहर के रहनेवाले थे और मालागढ़ से क्रान्ति का जंचालन करते थे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार उनका सम्बन्ध दिल्ली के राजघराने से था। जो व्यक्ति अपने देश को प्यार करता है, वह अपनी सुख-सुविधा की परवाह नहीं करता।

वली दाद ख़ाँ कुछ कारणों से पहले से ही कम्पनी सरकार से नाराज़ थे। वे अवसर की तलाश में थे। जब 1857 ई. में क्रान्ति प्रारम्भ हुई, तो उन्होंने सरकार के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया। अपने थोड़े-से साधनों के आधार पर ही ब्रितानियों के विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ कर दी। कुछ लोगों ने उनके देश प्रेम के कार्य की सराहना नहीं की, तथापि वीर पुरुष बिना प्रशंसा की परवाह किए हुए अपने उचित कार्य करते रहते हैं। मालागढ़ वली दाद ख़ाँ की क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र था। कुछ आसपास के लोगों का उन्हें समर्थन प्राप्त था। आदमी यदि हिम्मत से काम ले, तो अपने दुश्मन को भी शिकस्त दे सकता है। वली दाद ख़ाँ ने ब्रितानियों के विरुद्ध जमकर युद्ध लड़ा और गुलावटी की सैनिक चौकी पर अधिकार कर लिया। वली दाद ख़ाँ ने आगरा और मेरठ के बीच ब्रितानियों की संचार-व्यवस्था तहस-नहस कर दी। 10 सितम्बर

1857 ई. को गुलावटी के समीप वली दाद ख़ाँ ने कम्पनी की सेना के सामना जमकर युद्ध लड़ा, जिसमें ब्रितानियों को वली दाद ख़ाँ को पराजित करने में सफलता नहीं मिली।

इसी बीच मेरठ के कमिश्नर ने सरकार को पत्र लिखा कि अगर वली दाद ख़ाँ की गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित नहीं किया गया, तो उसके दूरगाम परिणाम हो सकते हैं। वली दाद ख़ाँ बड़ी तीव्र गति से अपनी शक्ति में वृद्धि कर रहे थे। वे क्रान्तिकारी नीति के बारे में अच्छी तरह जानते थे। अतः वली दाद ख़ाँ ने अपनी सेना को नए सिरे से संगठित किया। उनकी वीरता मुग़ल सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें अलीगढ़ के सूबेदार के पद पर नियुक्त कर दिया।

वली दाद ख़ाँ कम्पनी की सेना से युद्ध करने के लिए तैयार थे। 2 सितम्बर 1857 ई. को उनका कम्पनी के सैनिकों से घनघोर युद्ध हुआ जिसमें अनेक लोग हताहत हो गए। क्रान्तिकारी ब्रितानियों की शस्त्रों से सुसज्जित सेना के समक्ष अधिक समय तक नहीं टिक सके। उन पर ब्रिटिश सैनिक निरन्तर गोलाबारी करते रहे। क्रान्तिकारियों को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। क्रान्तिकारियों ने भी अनेक अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया परन्तु अन्त में उनकी पराजय हुई। 29 सितम्बर को ब्रितानियों ने मालाग के दुर्ग पर घेरा डाल दिया, जिसके कारण वली दाद ख़ाँ को विवश होकर अपने साथियों के साथ भागना पड़ा। ब्रितानियों का क़िले पर अधिकार हो गया, परन्तु सुरंग फट जाने के कारण लेफ़्टीनेंट होम की मृत्यु हो गई। यह पता नहीं कि वली दाद ख़ाँ की मृत्यु कब और कहाँ पर हुई। इतना सही है कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपने घुटने नहीं टेके। अन्य प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेताओं के साथ भी उनका सम्पर्क था। ख़ान बहादुर ख़ाँ नाना साहब से भी उनकी भेंट हुई थी। वली दाद ख़ाँ के त्याग एवं बलिदान को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

हसरत मोहानी, इक़बाल और आज़ाद

■ ज़हीर ललितपुरी

हमारे देश की आज़ादी की लड़ाई में हिन्दू, मुस्लिम, सिख आदि सभी मोँ के लोगों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था और न सिर्फ़ हिस्सा लिया था, बल्कि कुरबानियाँ भी दीं। इन आज़ादी के सिपाहियों ने जंग में ख़ास रोल अदा नहीं किया, बल्कि बहुत भारी क़ीमत अदा की। इस जंग ने न्दुस्तानी अवाम को नीचे से ऊपर तक, आम आदमी से लेकर असरदार क़त्तों को एक प्लेटफ़ॉर्म पर इकट्ठा कर जोड़ने का काम किया और इस क़त्ता ने भारत की ब्रिटिश सरकार के सामने बहुत बड़ी चुनौती खड़ी कर थी। बादशाहों और राजाओं, आम किसान और मज़दूरों, धर्मगुरुओं, धू-संतों, धार्मिक विद्वानों और उलमा को, जंगे-आज़ादी में हिस्सा लेने की ज़ह से, सख़्त सज़ाएँ भुगतनी पड़ी। सैकड़ों जागीरदारों की जागीरें छीन ली ई और उलमा यानी इस्लामी धर्म गुरुओं को माल्टा के ठण्डे इलाक़ों की लों में और अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के निर्जन स्थानों में सज़ा गतने के लिए मजबूर होना पड़ा। मौलाना हसरत मोहानी, डॉ. अल्लामा क़बाल और मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद भी इन्हीं आज़ादी के सिपाहियों से थे, जिन्होंने अंग्रेज़ों से कभी समझौता नहीं किया और दूसरे आज़ादी सिपाहियों की तरह खुशी-खुशी तकलीफ़ें और सज़ाएँ भुगतीं।

(1)

‘इन्क़िलाब जिन्दाबाद’ का नारा देने वाले आज़ादी के सिपाही : मौलाना हसरत मोहानी

‘इन्क़िलाब जिन्दाबाद’ का नारा देनेवाले आज़ादी के सिपाही, मौलाना हसरत मोहानी का वास्तविक नाम सैयद फ़ज़लुलहसन और उपनाम हसरत ।। चूँकि वे उत्तर प्रदेश के ज़िला उन्नाव के मोहान गाँव में पैदा हुए थे, सलिए मौलाना हसरत मोहानी के नाम से मशहूर हुए। वे भारत की आज़ादी की लड़ाई के सच्चे सिपाही होने के साथ-साथ शायर, पत्रकार,

राजनीतिज्ञ और ब्रिटिश भारत के सांसद थे। उनका जन्म 1 जनवरी 18 ई. को हुआ और 1 मई 1951 ई. को उनकी मृत्यु हुई।

होशियार और मेहनती विद्यार्थी और मशहूर शायर

हसरत मोहानी बहुत ही होशियार और मेहनती विद्यार्थी थे। उन्हें राज्य स्तरीय परीक्षा में टॉप किया था। बाद में उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में पढ़ाई की, जहाँ उनके कॉलेज के साथी मौलाना मुहम्मद अजौहर और मौलाना शौकत अली आदि थे। उन्होंने अपने उस्ताद तसल्लुखनवी और नसीम देहलवी से शायरी की शिक्षा प्राप्त की। उनकी दुःख्वास किताबें कुल्लियात हसरत मोहानी (उनकी शायरी का संग्रह), शकलामे-ग़ालिब (ग़ालिब की शायरी की व्याख्या), नुकाते-सुखन (उर्दू शायर पर एक ख़ास किताब), मुशाहदाते-ज़िन्दाँ (जेल के संस्करण) आदि ब. मशहूर हुईं। गुलाम अली द्वारा गाई गई उनकी ग़ज़ल 'चुपके-चुपके रात में आँसू बहाना याद है' बहुत मशहूर हुई, जिसे बाद में फ़िल्म निकाह फ़िल्माया गया।

आज़ादी के बहुत बड़े दीवाने

हसरत मोहानी आज़ादी के बहुत बड़े दीवाने थे और ख़ासकर भारत आज़ादी से उन्हें बहुत प्यार था। वे बालगंगाधर राव को बड़े सम्मान तिलक महाराज कहते थे और उनके बहुत बड़े प्रशंसक थे, क्योंकि उन्हें कहा था कि आज़ादी मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। उनकी पत्नी निशातुन्नि बेगम, जो हमेशा परदे में रहती थीं, ने भी अपने पति के साथ आज़ादी लड़ाई में हिस्सा लिया था। मौलाना हसरत मोहानी आज़ादी की लड़ाई में तरह-तरह घुल मिल गए थे कि उनके लिए इस राह में मिलने वाले दुःख-व्यथा राहत-खुशी एक जैसे थे। वे हर तरह के हालात में अपने आपको खुश रख जानते थे। उन्होंने बहुत थोड़ी-सी आमदनी से, कभी-कभी बिना आमदनी के, गुज़ारा किया। वे अंग्रेज़ों द्वारा कई बार जेल में डाले गए, लेकिन तब तक न किया और अपना रास्ता नहीं बदला। उनकी सबसे बड़ी ख़ासियत यह थी कि वे अंजाम की फ़िक्र किए बिना जो सच समझते थे कह देते थे।

की क्रीमत पर वह कोई समझौता नहीं करते थे।

ग्रेस से सम्बन्ध

मौलाना हसरत मोहानी कॉलेज के ज़माने में ही आज़ादी की लड़ाई में मिल हो गए थे। किसी तरह का समझौता न करने की आदत और रिए की वजह से उन्हें कॉलेज के दिनों में काफ़ी परेशानियों का सामना ना पड़ा। कॉलेज से निकलने के बाद उन्होंने एक उर्दू मैगज़ीन 'उर्दू-ए-मुअल्ला' निकालना शुरू की, जिसमें वे जंगे-आज़ादी की हिमायत में सियासी व लिखा करते थे। सन् 1904 ई. में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल गए और सूरत सत्र 1907 ई. में प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित रहे। वे ग्रेस के अधिवेशनों और सत्रों की रिपोर्ट और समाचार अपनी मैगज़ीन 'ए-मुअल्ला' में प्रकाशित करते रहते थे। उन्होंने कलकत्ता, बनारस, बम्बई दि में आयोजित होने वाले कई कांग्रेसी सत्रों की रिपोर्ट अपनी मैगज़ीन 'ए-मुअल्ला' में प्रकाशित की थीं। कांग्रेस के सूरत सेशन 1907 ई. में जब न्तिपसन्द लोगों के नरम दल और भारत की पूरी आज़ादी की हिमायत नेवाले गरम दल का विवाद उठ खड़ा हुआ तो उन्होंने तिलक के साथ ग्रेस छोड़ दी और वे मुस्लिम लीग की तरह कांग्रेस से भी नफ़रत करने ।।

पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव

एक दिलचस्प बात यह है कि मौलाना हसरत मोहानी ने अहमदाबाद में 21 ई. के सत्र में भारत के पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव रखा, जबकि गाँधी उस वक़्त इसके लिए तैयार नहीं थे और अंग्रेज़ों के अधीन होम रूल (शायत्ता) के समर्थक थे। इस वजह से मौलाना अपना प्रस्ताव पास कराने कामयाब नहीं हुए। इसी प्रकार मुस्लिम लीग के अहमदाबाद सेशन में होने अपन भाषण के दौरान पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पेश किगा था, ताँकि इसे मंज़ूर कराने में वे कामयाब नहीं हुए। बीसवीं सदी के शुरू में रत मोहानी ने अलीगढ़ में सविनय अवज्ञा आन्दोलन की हिमायत में देशी स्टोर शुरू किया। उन्होंने यह स्टोर उस वक़्त शुरू किया जब ब्रिटिश

सरकार ने उनकी मैगज़ीन पर पाबन्दी लगा दी। मौलाना स्वदेशी आन्दोलन के इतने बड़े हिमायती थे कि उन्होंने दिसम्बर की ठण्डी रात में भी, अपासाथी मौलाना सैयद सुलेमान नदवी के ऑफिस में निवास के दौरान, विदेकम्बल इस्तेमाल करने से मना कर दिया। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी खुद इस घटना का वर्णन किया।

‘इन्क़िलाब जिन्दाबाद’ का नारा

आज भी हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और बंगलादेश में कोई आन्दोलन चलता है या मूवमेंट चलता है तो ‘इन्क़िलाब जिन्दाबाद’ का नारा उसका खास हिस्सा होता है। हमारे देश की कोई भी सियासी पार्टी या कोई संगठन अपनी माँगों के लिए मुज़ाहिरे और प्रदर्शन करती है तो इस नारे का इस्तेमाल आन्दोलन में जान फूँक देता है। भारत की आज़ादी की लड़ाई में तो ये नारा उस लड़ाई की जान हुआ करता था और जब भी, जहाँ भी यह नारा बुलन्द किया जाता था, आज़ादी के दीवानों में जोश का तूफ़ान भर देता था। इन्क़िलाब जिन्दाबाद का यह नारा आज़ादी के अज़ीमुश्शान सिपाही मौलाना हसरत मोहानी का दिया हुआ है। भारत की आज़ादी में बढ़-चढ़कर हिस्से लेनेवाले हिन्दुस्तानी रहनुमाओं और मुजाहिदों की फ़ेहरिस्त में मौलाना हसरत मोहानी का नाम सरे फ़ेहरिस्त (सूची) शामिल है। उन्होंने इन्क़िलाब जिन्दाबाद का नारा देने के अलावा टोटल फ़्रीडम अर्थात् पूर्ण स्वराज्य अथवा भारत के लिए पूरी तरह आज़ादी की माँग की हिमायत की थी।

ईमानदार और सच्चे मुसलमान

हकीकत में, देशभक्त होने के साथ-साथ, मौलाना हसरत मोहानी बहुत सारी खूबियों के मालिक थे। वे साहित्यकार, शायर, पत्रकार, इस्लाम विद्वान, समाजसेवक और उसूलपरस्त राजनीतिज्ञ थे। वे बहुत क्राबिक ईमानदार और सच्चे मुसलमान थे, लेकिन उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के विचारधारा को भी आगे बढ़ाया। वे भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के फ़ाउन्डिंग मेम्बर्स में से एक थे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बँटवारे के बाद उन्होने पाकिस्तान के बजाय हिन्दुस्तान में रहना पसन्द किया, किन्तु पाकिस्तान

। लोग उन्हें उसी सम्मान से देखते हैं, जिस तरह हिन्दुस्तान में उन्हें सम्मान या जाता है। उनके इन्तिकाल के बाद 1951 ई. में मौलाना नुसरत हानी ने कराची पाकिस्तान में हसरत मोहानी मेमोरियल सोसायटी, हसरत हानी मेमोरियल लाइब्रेरी और ट्रस्ट बनाए। उनकी बर्सी पर हर साल इस ट्रस्ट और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के अन्य संगठनों द्वारा उनकी याद में सभाएँ और विचार गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं। कराची पाकिस्तान में हसरत हानी कॉलोनी, कोराँगी कॉलोनी हैं और कराची के व्यावसायिक इलाके में हुत बड़े रोड का नाम उनके नाम पर रखा गया है।

(2)

‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तॉ हमारा’

के रचयिता सर मुहम्मद इक़बाल

दुनिया में शायद ही कोई उर्दू भाषी और हिन्दी भाषी इनसान होगा जिसने सर मुहम्मद इक़बाल का लिखा हुआ हिन्दुस्तानी क़ौमी तराना ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तॉ हमारा’ न सुना हो। हालाँकि सर इक़बाल दुनिया की अनेक भाषाओं के जानकार थे और उनके कारनामों की लिस्ट बहुत लम्बी, किन्तु सिर्फ़ उनका लिखा हिन्दुस्तानी क़ौमी तराना ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तॉ हमारा’ उनको याद करने के लिए काफ़ी है। शायद ही कोई हिन्दुस्तानी ऐसा होगा जिसने कभी इस नग़मे को गुनगुनाया न हो। हिन्दुस्तान के उन इलाक़ों में जहाँ उर्दू और हिन्दी जाननेवाले लोग रहते हैं, शायद ही कोई ऐसा स्कूल, मदरसा या विद्यालय होगा, जहाँ यह तराना न गाया जा होगा।

शेष में सम्मान

हिन्दुस्तानी क़ौमी तराने ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तॉ हमारा’ के रचयिता महान दार्शनिक, वकील, शायर, लेखक और राजनीतिज्ञ सर मुहम्मद इक़बाल भारतीय नागरिक थे। हिन्दुस्तानियों के लिए यह गौरव का विषय है कि जब उनका जन्म सियालकोट में हुआ था, सियालकोट भारत में था

इसलिए तब वे भारतीय थे और हिन्दुस्तान की आज़ादी के सिपाही थे। जन के लिहाज़ से इक़बाल भारतीय मूल के इन्सान हैं, क्योंकि उनका जन्म ब्रिटिश भारत के पंजाब प्रान्त, सियालकोट में (जो अब पाकिस्तान में है) नवम्बर 1877 ई. में हुआ था। उनके दादा कश्मीरी पण्डित थे। वे कश्मीर के सप्रू मूल के ब्राह्मण थे तथा जब कश्मीर में सिखों का शासन था, उनका परिवार पंजाब के लिए पलायन कर गया था।

सर इक़बाल ने अपने कश्मीरी पण्डित होने का ज़िक्र अपने लेखन अक्सर किया है। यही कारण है कि जितना पाकिस्तानी नागरिक सर इक़बाल का सम्मान करते हैं, उससे अधिक हिन्दुस्तानी उनका सम्मान करते हैं वास्तव में सर इक़बाल जैसे लोगों को किसी खास राष्ट्र की सीमाओं में कै नहीं किया जा सकता। वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वमान्य व्यक्तित्व के मालिक थे। दक्षिण एशिया और उर्दू जगत में सर इक़बाल को शायर-ए-मशिर अर्थात् पूरब का शायर माना जाता है। उन्हें मुफ़क्किर-ए-पाकिस्तान अर्थात् पाकिस्तानी चिन्तक तथा हकीमुल-उम्मत अर्थात् उम्मत के सुधारक के रूप में याद किया जाता है। पाकिस्तान में उनका जन्म 9 नवम्बर इक़बाल डे के रूप में हर वर्ष बड़े धूमधाम से मनाया जाता है, तथा इस दिन का सार्वजनिक अवकाश होता है। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में वे इक़बाल-ए-लाहौ के नाम से मशहूर हैं और उनकी शायरी वहाँ की अवाम के द्वारा बहुत पसन्द की जाती है।

दुनिया के महान लोगों की नज़रों में

केवल मुस्लिम देशों और मुस्लिम जगत में ही उनकी मान्यता नहीं है बल्कि दुनिया के विभिन्न देशों में उनको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है यूनाइटेड स्टेट सुप्रीम कोर्ट के ऐसोसिएट जस्टिस विलियम ओ. डगलस के अनुसार उनके विचार अन्तर्राष्ट्रीय पहचान रखते हैं। सावियत रूस के एन पी. एनिकोव ने अपनी आत्म-कथा में उनके विचारों को असमानता, भेदभाव के विरुद्ध तथा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, वर्गीय और धार्मिक हर क्षेत्र में उल्लेखनीय माना है। शायरी के अलावा सर मुहम्मद इक़बाल

एक दार्शनिक, वकील, शायर, लेखक और राजनीतिज्ञ भी थे।

अंग्रेजी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी, हिन्दी और दुनिया की अन्य जुबानों की रीच में सर मुहम्मद इक़बाल को बहुत इज्ज़त की नज़र से देखा जाता है। इन्हें उर्दू साहित्य में, उर्दू फ़ारसी दोनों जुबानों का बहुत ख़ास रचनाकार माना जाता है। हिन्दुस्तानी नागरिकों के अलावा पाकिस्तानी, अफ़ग़ानी, ईरानी और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकारों की नज़रों में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक शायर माने जाते हैं। हालाँकि इक़बाल एक जाने-मानी शायर हैं, मगर इसके साथ-साथ वे मौजूदा दौर में उच्चस्तर के मुस्लिम दार्शनिक, चिन्तक भी हैं। उनकी पहली शायरी की किताब 'असरारे-खुदी' फ़ारसी में 1915 ई. में प्रकाशित हुई थी और अन्य किताबें 'रुमूजे-बेखुदी', 'शरफ़े-मशरिफ़' और 'ज़बूरे-अजम' हैं। इसके अलावा उर्दू को उनकी सबसे ख़ूबी देन बाँगे-दरा, बाले-जिबरील, ज़र्बे-कलीम व अर्मुग़ाने-हिजाज़ हैं।

तीसरा तराना और इक़बाल

हिन्दुस्तान के लिए उनकी सबसे बड़ी देन तराना-ए-हिन्द 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा।' यह तराना लगभग एक सदी से हिन्दुस्तान में लोकप्रिय है। कहा जाता है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने, जब वे यरवदा जेल में बन्द थे, इस तराने को लगभग 100 बार से ज़्यादा गाया था। यह तराना 1950 ई. में सितारवादक रविशंकर द्वारा सेट किया गया था और रामंगेशकर द्वारा गाया गया था। इसके शेर नं. (1) सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा, हम बुलबुलें हैं इसकी ये गुल्लिताँ हमारा, शेर नं. (2) पर्वत सबसे ऊँचा हमसाया आस्माँ का, वो सन्तरी हमारा वो पांसबाँ हमारा, शेर नं. (3) गोदी में खेलती हैं जिसकी हज़ारों नदियाँ, गुलशन है जिनके दम से फ़जिनाँ हमारा, और शेर नं. (4) मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर बना, हिन्दी हैं हम वतन हैं। हिन्दुस्ताँ हमारा, राष्ट्रप्रेम की जिस स्तर की ज़रूरतों से ओतप्रोत है, राष्ट्रगान के शेरों की अहमियत रखते हैं।

फिर भी दुनिया में बहुत कम व्यक्ति ऐसे होंगे, जो एक साथ कई राष्ट्रों के नागरिकों के बीच समान रूप से लोकप्रिय और मान्यता प्राप्त हैं। जिनकी

संस्कृति, आचार-विचार, सिद्धांतों और मानदण्डों में बुनियादी अन्तर है। मुहम्मद इक़बाल ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी थे। खासकर दो ऐसे देशों जिन्हें बीच जन्मजात दुश्मनी है, उन दोनों मुल्कों में इक़बाल उनके अपने बुद्धि और साझा सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत के पोषक माने जाते हैं। इस्लाम धर्म और मुस्लिम समाज से सम्बन्ध रखने के बावजूद हिन्दुस्तान ही नहीं, दुनिया भर में बसने वाले हिन्दू मूल के नागरिक उन्हें अपने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक बुजुर्ग मानते हैं। सर मुहम्मद इक़बाल व्यक्तित्व की यह विशेषता उन्हें दुनिया के महान व्यक्तियों में पहली पंक्ति का व्यक्ति बनाती है।

(3)

आज के हिन्दुस्तानी रहनुमाओं के लिए एक अनूठी मिसाल मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद

हिन्दुस्तान की आज़ादी की मुहिम और आज़ादी के बाद उसकी तरक्की के लिए की जानेवाली कोशिशों में जिन रहनुमाओं का खास रोल रहा उनमें मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद का नाम सोने के अक्षरों में लिखने योग्य है। मौलाना आज़ाद भी उन मुस्लिम रहनुमाओं में से एक थे, जिन्होंने बँटव के वक्त पाकिस्तान जाना पसन्द नहीं किया और हिन्दुस्तान में रहकर सवतनपरस्त की तरह इसकी तरक्की के लिए जी तोड़ मेहनत और कोशिश कीं। आज के हिन्दुस्तानी रहनुमाओं के लिए वे एक अनूठी मिसाल हैं। हकीकत में आज हिन्दुस्तान को मौलाना आज़ाद जैसे अच्छे किरदार मालिक, ईमानदार, विद्वान, सेक्यूलर, अमनपसन्द, इन्साफ़पसन्द अपने वक्त और इनसानियत की सच्ची खिदमत करने वाले और अवाम को सही रास्ता दिखाने वाले रहनुमाओं की ज़रूरत है।

जन्मभूमि मक्का, मगर कार्यस्थल भारत

मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, जिनका पूरा नाम अबुल-कलाम मुहीउद्द

मद आज़ाद है। उनका जन्म 11 नवम्बर 1888 ई. को तथा मृत्यु 22 वरी 1958 ई. को हुई थी। मौलाना आज़ाद उन रहनुमाओं में से एक हैं, होंने हिन्दुस्तान में जन्म नहीं लिया, बल्कि हिन्दुस्तान की भलाई के लिए ना सब कुछ निछावर कर दिया। उनका जन्म धार्मिक, आध्यात्मिक और हासिक शहर मक्का, सऊदी अरब में हुआ था। उनके पुर्वज बुद्धिजीवी, जन और बहादुर सैनिक थे, जो मुग़ल बादशाह बाबर के समय में हेरात ग़ानिस्तान से हिन्दुस्तान आए थे।

उनके पिता मौलाना मुहम्मद ख़ैरुद्दीन बहुत बड़े विद्वान थे, जिन्होंने ताम धर्म और अन्य विषयों से सम्बन्धित दर्जनों किताबें लिखीं और के सैंकड़ों शिष्य थे। उनकी माता मदीना के शेख़ मुहम्मद ज़हीर वतरी, स्वयं एक मशहूर विद्वान थे, की बेटी थीं। आज़ाद के नाना शेख़ मुहम्मद र वतरी उनके पिता का बहुत सम्मान करते थे और इस्लामी दुनिया में की इज़्जत के क्रायल थे।

हिन्दुस्तान की लड़ाई के समय तक मौलाना ख़ैरुद्दीन अपने परिवार के ा बंगाल में रहे, मगर बाद में मक्का में बस गए। वहीं पर आज़ाद पैदा मगर 1890 ई. में वे फिर भारत आ गए और कलकत्ता में निवास करने । हिन्दुस्तान आने के बाद से अपने इन्तिकाल के समय तक मौलाना ाद ने अपने वतन में रहकर आज़ादी की लड़ाई में बढ़-चढ़कर हिस्सा ा। वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सीनियर नेता थे। आज़ादी के बाद त सरकार में उन्हें शिक्षा मंत्री बनाया गया। शिक्षा के क्षेत्र में की गई ती सेवाओं को याद रखने के लिए उनके जन्म दिन 11 नवम्बर को ोय शिक्षा दिवस के रूप में मनाया जाता है।

ता, ईमानदारी और चरित्र के धनी

मौलाना आज़ाद अरबी, अंग्रज़ी, उर्दू, हिन्दी, फ़ारसी और बंगाली के -साथ कई जुबानों में मास्टर थे। इस्लाम धर्म, गणित, दर्शन, दुनिया के इस, साइंस आदि की शिक्षा उन्हें बेहतरीन प्रशिक्षित और योग्य शिक्षकों घर पर ही दी गई। इस्लामी शरीअत की विभिन्न विचार धाराओं,

हन्फ्री, मालिकी, शाफ़र्ड और हंबली फ़िक्क का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया। वे बहुत ही होशियार विद्यार्थी थे। मौलाना आज़ाद ने 12 साल उम्र में ही एक पुस्तकालय, अध्ययन कक्ष और वाद-विवाद समिति संयोजन और संचालन किया। निस्वार्थ समाजसेवी होने के साथ-साथ बहुत अच्छे शायर और लेखक थे। 14 साल की उम्र में उन्होंने 'मख़ज़ नामक मशहूर मैगज़ीन में सहयोग किया तथा क्लासरूम में अपने से दो-उम्र के विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, जब वे मुश्किल से पन्द्रह साल थे।

सोलह साल की उम्र तक आते-आते, अपने साथियों से नौ साल पहले वे पारंपरिक शिक्षा के कोर्स के अध्ययन को पूर्ण कर चुके थे। उन्हें इस्लामी शिक्षा को सिर्फ़ सीखा ही नहीं, बल्कि अपने जीवन में उतारा। एक खुदा से डरने वाले सच्चे मुसलमान और पक्के ईमानवाले थे। इस्लाम शिक्षाओं के प्रभाव से उनके व्यक्तित्व में बहुत सारी खास बातें पैदा हो गईं। वे ईमान और अच्छे किरदार के मालिक और अपने वतन के प्रवक्तादार थे। उन्होंने अपने वतन की आज़ादी के लिए बहुत सारी परेशानियाँ उठाईं। आज़ादी के बाद अपनी योग्यता के दम पर हिन्दुस्तान की तरफ़ के लिए कोशिशें कीं। अपने वतन के लिए की गई उनकी सेवाओं के लिए उन्हें सर्वोत्तम नागरिक पुरस्कार भारत रत्न से सम्मानित किया गया। कया जाता है कि बहुत पहले, जब उनको भारत रत्न पुरस्कार के लिए प्रस्ताव दिया गया तो, उन्होंने खुद सेलेक्शन कमेटी का सदस्य होने के कारण मना कर दिया था।

निर्भीक पत्रकार और आज़ादी के बहादुर सिपाही

सोलह साल की उम्र में मौलाना आज़ाद ने राजनैतिक जर्नल 'नैरं आलम' निकाल कर पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। इसके अलावा सिर्फ़ 12 साल की उम्र में सन् 1900 ई. में 'अलमिस्बाह' साप्ताहिक पत्र एवं 1903 ई. में 'लिसानुस्सिदक़' मैगज़ीन में काम कर चुके थे। उन्होंने अन्तिम आसमानी किताब कुरआन, पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) :

।क्षाओं और इस्लामी शरीअत अर्थात् विधि-विधान के सम्बन्ध में बहुत याब काम किया। उनकी कुरआन की टीका बहुत मशहूर और इस्लामी ।क्षा प्राप्त करने का बहुत अच्छा ज़रिआ है। मुसलमानों में क्रान्ति के प्रति गृति पैदा करने के लिए 1912 ई. में मौलाना आज़ाद ने उर्दू में एक ।प्ताहिक पत्र 'अल-हिलाल' के नाम से निकालना शुरू किया। मोर्लेमिन्टो धारों के नतीजे में भारत के दो बड़े सम्प्रदायों में जब खूनी संघर्ष शुरू हुआ । अल-हिलाल ने दोनों सम्प्रदायों के बीच सौहार्द कायम करने में अहम रोल दा किया। जब अल-हिलाल क्रान्तिकारियों और चरमपन्थियों के विचारों । प्रतिनिधित्व करते हुए आज़ादी के आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा रने लगा, तो तत्कालीन सरकार ने उसे आपत्तिजनक विचारों का अख़बार ।नकर प्रतिबन्धित कर दिया। अल-हिलाल पर पाबन्दी लगने के बाद ।न्होंने उन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने के लिए 'अल-बलाग़' नाम का दूसरा ख़बार शुरू कर दिया, जिसमें हिन्दु-मुस्लिम एकता पर-आधारित राष्ट्रवादी चरमपन्थी विचार और लेख प्रकाशित किए जाते थे। सन् 1916 ई. में रकार ने इस पर भी पाबन्दी लगा दी और मौलाना आज़ाद को कलकत्ता ।ँची भेज दिया। जहाँ से वे प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 1920 ई. में रिलीज़ ।ए। रिलीज़ होने के बाद मौलाना आज़ाद ने ख़िलाफ़त आन्दोलन की तरफ़ ।गृत किया, जिसका मक़सद तुर्की में फिर से ख़िलाफ़त कायम करना था।

ग़बिल, वफ़ादार और कटूटर कांग्रेसी

जब गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया तो मौलाना ने उनका ।र्थन किया था और 1923 ई. में दिल्ली में वे कांग्रेस में शामिल हो गए ।। गाँधी जी के नमक सत्याग्रह आन्दोलन में हिस्सा लेने पर क़ानून तोड़ने । जुर्म में 1930 ई. में उनको गिरफ़्तार कर लिया गया और मेरठ जेल में । साल तक रखा गया। मौलाना आज़ाद 1940 ई. में कांग्रेस के प्रसीडेंट ।नाए गए और 1946 ई. तक इस पद पर रहे। वे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान ।टवारे के हमेशा विरोधी रहे और इसके नतीजे में होनेवाली हिंसा से उन्हें ।हुत दुख पहुँचा। वे चाहते थे कि भारत हिन्दु-मुसलमानों के सहयोग से ।हअस्तित्व की भावना के साथ एक अखण्ड राष्ट्र बने। मौलाना आज़ाद

पण्डित जवाहर लाल की केबिनेट में 1947 ई. में आज़ाद भारत के पहलें शिक्षा मंत्री बने और 1958 ई. तक इस पद पर रहे।

22 फ़रवरी 1958 को जब उनका इन्तिक़ाल हुआ तो हिन्दुस्तान कें तरक्क़ी की कोशिशों को बहुत धक्का लगा। आज तक कोई ऐसा दूसर रहनुमा नहीं हुआ, जो उनकी कमी को पूरा कर सकता। आज भी उनकें सियासी सूझबूझ और रहनुमाई हमारे देश को राह दिखा सकती है। शिक्ष के क्षेत्र में उन्होंने जो प्लान बनाए थे, हिन्दुस्तानी अवाम को उसका फ़ायदा आज भी मिल रहा है। मौजूदा हिन्दुस्तान के ख़राब हालात को सुधारने के लिए आज की गन्दी सियासत को साफ़ करने के लिए मौलाना आज़ाद जैसे क़ाबिल, कर्मठ और ईमानदार रहनुमाओं की सख़्त ज़रूरत है।

शहज़ादा मिर्ज़ा कैसर और मिर्ज़ा महमूद

मिर्ज़ा कैसर शाह आलम का बेटा यानी बहादुर शाह ज़फ़र का दादा था। नू 1857 ई. की प्रथम स्वतंत्रता की लड़ाई के समय वह काफ़ी बूढ़ा था और हथियार चलाना तो दूर, चलना-फिरना भी आसान न था। फिर भी ग्रेज़ों के पिटू मिर्ज़ा काले की बेसर-पैर की बातों में आकर बूढ़े मिर्ज़ा ज़सर को पकड़ लिया गया और उस पर ग़दर (स्वतंत्रता संग्राम) का आरोप गाकर फाँसी दे दी गई।

इसी प्रकार गठिया के रोग से ग्रस्त अकबर शाह के पोते मिर्ज़ा महमूद शाह, जिसके हाथ-पाँव बिलकुल नाकारा हो गए थे और जो एक जगह से सरी जगह जाने में असमर्थ था। यानी उसका सारा शरीर लुँज-पुँज हो गया था, न जाने बदनसीब कैसे ज़िन्दा था, को भी मुख़बिर की चुगली के आधार पर गिरफ़्तार कर फाँसी दे दी गई।

बीमार मिर्ज़ा महमूद शाह की लाश को तुरन्त न दफ़नाकर सार्वजनिक स्थान पर लटका दिया गया और दिल्ली के लोग कई दिनों तक उस लटकती ई लाश को देखते रहे। यद्यपि बूढ़े मिर्ज़ा कैसर ने किसी अंग्रेज़ महिला तथा च्चे की हत्या नहीं की थी और न ही हथियार लेकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध ज़ँग डी थी, फिर भी देशभक्त होने के जुर्म में बूढ़े और बीमार शहज़ादा मिर्ज़ा ज़सर को फाँसी की सज़ा दी गई।